अपनी बात

बचपन में परियों की कहानियाँ सुनकर बच्चे गद्गद हो उठते हैं। इन कहानियों से उनका मनोरंजन होता है और ज्ञानवर्द्धन भी। किशोर होते ही बालक-बालिकाओं में, अपने आस-पास की दुनिया की प्रायः सभी वस्तुएँ देख, उनके संबंध में विशेष बातें जानने की उत्सुकता हिलोरें लेने लगती है। राजपथ पर चलते-चलते उन्हें बिजली और टेलीफोन के तार तथा आकाश में उड़ते हुए हवाई जहाज सहसा अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। किसी वन-भ्रमण में कल-कल करनेवाले झरने और प्रपात तथा असाधारण वनस्पतियाँ, उनके मन में अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ उत्पन्न कर बैठती हैं।

'धरती-आकाश' में मेरे इसी प्रकार के निबन्धों का संग्रह है, जो हमारे किशोर-किशोरियों की ऐसी अनेक जिज्ञासाओं का न केवल समाधान करेंगे, प्रत्युत उनका मनोरंजन भी उसी प्रकार करेंगे, जिस प्रकार परियों की कहानियाँ करती हैं।

इसमें जहाँ पृथ्वी पर जीवधारियों की रहस्यमयी उत्पत्ति और मनुष्य के आदिम रूप पर रोचक शैली में प्रकाश डाला गया है, वहीं संसार की असाधारण वनस्पतियाँ, बड़े-बड़े जल-प्रपात, बर्फ के तैरते हुए पहाड़, समुद्र की रहस्यमयी तली और टेलीफोन के चमत्कार भी दिखलाए गए हैं। फिर युग-युग के साथी घोड़ा, हाथी और ऊँट की उत्पत्ति तथा उनकी उपयोगिता दिखलाते हुए परमाणु-बम, उद्जन-बम और विध्वंसक जहाज तथा वायुयान की झाँकी भी दिखलाई गई है।

मेरा विश्वास है, किशोर-किशोरियों के लिए यह सचित्र पुस्तक 'धरती-आकाश' न केवल मनोरंजक, प्रत्युत ज्ञानवर्द्धक भी सिद्ध होगी।

इलाहाबाद,
४ सितम्बर, १९५२

—देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'
'सरस्वती'-सम्पादक

अनुक्रम

जीवधारियों की उत्पत्ति

भू-गर्भ में पाए गए कंकालों के अध्ययन से, पृथ्वी पर उत्पन्न होनेवाले जीवधारियों के सम्बन्ध में अनेक रहस्यों का पता चल गया है। पृथ्वी पर आजकल जो प्राणी पाए जाते हैं, उनका प्रारंभिक रूप आज से सर्वथा भिन्न था। आज का रूप तो धीरे-धीरे, सदियों के पश्चात् ही हो सका है। प्राणियों के उत्पन्न होने की मूल बात अब तक रहस्यपूर्ण ही है। यहाँ तक कि सबसे पहले उत्पन्न हुए प्राणियों के संबंध में भी कोई निश्चित पता नहीं चल सका, कारण उन सबके शरीर इतने कोमल रहे होंगे कि पृथ्वी के स्तरों में उनका कोई कंकाल अथवा अवशेष नहीं मिल सका।

जो प्राचीनतम कंकाल प्राप्त हो सके हैं, उनके आधार पर यह पता चलता है कि प्रारम्भ में पृथ्वी के अधिकांश भागों में जीवधारी नहीं होते थे। इसी आधार पर यह पता लगा है कि पहले-पहल जीवधारी किस प्रकार इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुए और धीरे-धीरे वे इधर-उधर कैसे फैलते गए।

यह मान लेने के अनेक कारण हैं कि पहले-पहल समुद्र के धरातल पर पौधों और जल-जन्तुओं की उत्पत्ति हुई होगी, जो परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के रहे होंगे। बहुत समय के बाद ये पौधे और जानवर उन निर्जन स्थानों में पहुँच गये, जिनमें साधारणतः समुद्र का फेन भी नहीं पहुँच सकता। ऐसे स्थानों में पहुँचकर ये पौधे और जानवर अपेक्षाकृत कुछ कड़े होने लगे और समुद्र की लहरों के थपेड़ों से अपनी रक्षा कर सकने योग्य हो सके। इस प्रकार समुद्र-तट पर जब ये पौधे और

जीव-जन्तु जीवन-संग्राम में खड़े होने योग्य होने लगे, तब उनके कंकाल भी पृथ्वी की चट्टानों अथवा स्तरों के बीच सुरक्षित रह सके। यही कंकाल पृथ्वी के पुराने-से-पुराने अवशेष हैं।
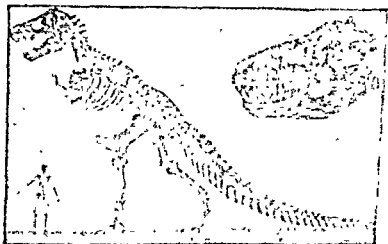
टिरानोसौरस और स्टेगोसौरस का ढाँचा

आस-पास की परिस्थितियों से रक्षा करने योग्य कवच जब समुद्र-तट पर रहनेवाले प्राणी धारण करने लगे अर्थात् उनके शरीर का आवरण कड़ा होने लगा, तब समुद्र के फेन आदि से रक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं रह गई। इस युग के बाद होनेवाले जीवधारियों के शरीर पर उतना मोटा और कड़ा आवरण नहीं पाया जाता, जितना पहले के जीवधारियों पर पाया जाता है। यह कड़ा आवरण न [illegible] बहुत मोटा होता था; इनका विकास भी होता था। पृथ्वी के अनेक जल-जन्तु जिन जीवों के शरीर पर रहते थे, [illegible] बहुत ही बड़े होते थे और [illegible] इन जल-जन्तुओं के शरीर के कवच होते थे।

कुछ विद्वानों का कहना है कि प्रारम्भ के जीव लोथड़ों की भाँति होते थे। वे केवल पानी में रह सकते थे। इन लोथड़ों के बढ़ने का ढंग अजीब था। इनके बीच में एक आँख होती थी। पहले इस आँख पर ये लोथड़े पतले होते थे और फिर कटकर दो हो जाते थे। दो से चार और चार से अनेक होकर सारे समुद्रों में ये फैल गए होंगे। ये जीव समुद्र की तलहटी में पड़े सोते रहे होंगे या उतराकर पानी की ऊपरी सतह तक आते रहे होंगे। लहरें इन्हें धक्के दे-देकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले गई होंगी। लहरों के थपेड़े खाते-खाते इनमें से अनेक का ऊपरी भाग कड़ा हो गया होगा। बहुत सम्भव है, घोंघों और मछलियों को इन्हीं जीवधारियों ने जन्म दिया हो।

पेड़-पौधों का जन्म

प्रारंभ के लोथड़ों से जिस प्रकार पहले कड़े आवरणवाले जीव बने और फिर घोंघे तथा सीप बने, उसी प्रकार उन्हीं लोथड़ों से पेड़-पौधे भी उत्पन्न हुए। सम्भव है, कुछ लोथड़े लहरों द्वारा तट पर जा पड़े होंगे और पुनः समुद्र में न आ सके होंगे। अपनी खुराक के लिए उन्होंने अपना मुँह मिट्टी में गड़ाया होगा और स्वयं जीवित रहकर पेड़-पौधों को जन्म दिया होगा। यदि उस समय कोई उथला समुद्र सूख गया होगा, तो पहले वह बहुत समय तक दलदल रहा होगा और फिर उसी दलदल में ये लोथड़े पेड़-पौधों के रूप में बदल गए होंगे। धीरे-धीरे इनकी अधिकता हो गई होगी और जंगल बन गया होगा। उन जंगलों को आज का रूप धारण करने में लाखों वर्ष लगे होंगे।

प्रश्न हो सकता है कि जब लोथड़ों से ही जीवधारी बने और पेड़-पौधे भी उन्हीं से बने, तब दुनिया में या तो पेड़ ही पेड़ होना थे अथवा जानवर ही जानवर। परन्तु ऐसा न होने का

रीढ़-रहित प्राणी

प्रारम्भ के समुद्र-तटवाले किसी भी प्राणी के रीढ़ की हड्डी नहीं होती थी। वे सब कोमल शरीरवाले होते थे, जैसे सीपी, कृमि और भींगा मछली। धीरे-धीरे इनकी संख्या भी बढ़ने लगी और इनके शरीर में रीढ़ की हड्डी भी होने लगी, जो प्रारंभ में बड़ी कोमल होती थी। यही जीवधारी मछलियों के जनक थे। इन प्राणियों के कंकालों पर भी धीरे-धीरे कड़े आवरण होने लगे, जो पहले के प्राणियों से सर्वथा भिन्न थे। शार्क मछलियों में भी यही परिवर्तन हुआ और ये भी धीरे-धीरे बड़े आकार-प्रकार की होने लगीं। इनका मुँह तीन-चार फुट चौड़ा और शरीर का आवरण तीन-चार इंच तक मोटा होने लगा। शताब्दियों तक मछलियों के आकार-प्रकार, रङ्ग-रूप, शरीर-गठन, गति आदि में परिवर्त्तन होता रहा और रीढ़ की हड्डी भी क्रमशः कड़ी-से-कड़ी होती गई।

कीड़े-मकोड़े

समुद्र-तट पर जब कुछ जीवधारी उत्पन्न होकर रहने लगे, उसके बहुत समय बाद तक उनके जीवन में कोई उन्नति नहीं हुई। छोटे-छोटे पौधों के अतिरिक्त समुद्र-तट का वह वातावरण लगभग शून्य-सा ही रहता था। प्राप्त कंकालों से यह पता चलता है कि साधारणतः हवा में साँस लेनेवाले पहले जीव छोटे-छोटे कीड़े ही थे।

कीड़ों-मकोड़ों के साथ बिच्छुओं के भी पाए जाने का पता चलता है; परन्तु ये बिच्छू भी उस समय पानी में रहकर उसी तरह साँस द्वारा हवा खींचा करते थे, जैसे मछलियाँ। कुछ जीवधारी अब तक ऐसे होते हैं, जो पानी में उत्पन्न होकर बाद में जमीन पर रहकर हवा में साँस लेनेवाले प्राणी बन जाते हैं।

मेंढक पहले पानी का ही जीव होता है। अण्डे से निकलने पर वह मछली के आकार का रहता है और पानी में ही वह जीवित रह सकता है; क्योंकि उस समय वह पानी के बाहर साँस नहीं ले सकता। परन्तु धीरे-धीरे उसके फेफड़े सशक्त हो जाते हैं और वह हवा में साँस लेने लगता है तथा पानी के किनारे रहने लगता है। पुराना होते-होते मेंढक एकदम धरती पर रहनेवाला जीव हो जाता है। इसी तरह बदलते-बदलते पानी के कुछ जीव धरती के जीव हो गए और पृथ्वी पर जहाँ-तहाँ फैलते गए।

रेंगनेवाले जीवधारी

उस समय तक दलदलवाले स्थानों पर पेड़-पौधों की संख्या काफी बढ़ चुकी थी। इन्हीं स्थानों में उस समय जो जीवधारी होते थे, वे छिपकली और मगर की भाँति पेट के बल रेंगनेवाले होते थे। ये जीव ठण्डे रक्तवाले होते थे।

अधिकांश भू-भागों में इस प्रकार के छोटे-छोटे रेंगनेवाले जीवधारियों ने बड़े-बड़े जीवधारियों को जन्म दिया, जो छिपकली और मगर की भाँति पेट के बल न रेंगकर अब पिछली और बड़ी टाँगों के सहारे तेजी से दौड़ सकते थे। भोजन आदि की खोज में ये जीवधारी दूर-दूर तक फैलते गये।

विशालकाय जानवर

इस प्रकार परिस्थितियों के अनुसार कालान्तर में विशालकाय जानवरों का जन्म होने लगा। इनमें से कुछ तो १०० फुट से भी अधिक लम्बे होते थे। सारी पृथ्वी पर उस समय धरती और समुद्र में बड़े-बड़े जीवधारी फैले हुए थे। इस युग का नाम ही 'पेट के बल रेंगनेवालों का युग' पड़ गया है। कारण, रेंगनेवाले प्राणियों की संख्या अन्य जीवधारियों से अधिक थी। इस युग के विशालकाय जानवरों की पुरानी पाई गई हड्डियों से पता

चलता है कि कुछ जीवधारी हाथी से भी बड़े आकार-प्रकार के होते थे। घने जंगलों में ये प्राणी मस्त विचरते रहते थे।
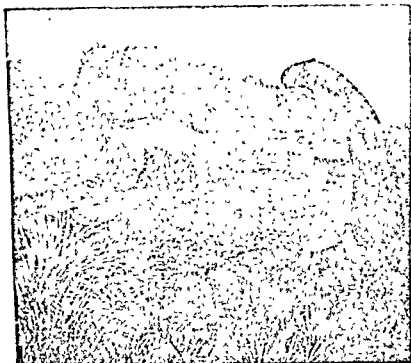
तृणभोजी ब्रोण्टो सौरस, जो ७० फुट लम्बा होता था।

जब विशालकाय जानवरों से यह पृथ्वी भर गई, तब अचानक ही एक भारी भूकम्प आया और ये भारी-भरकम जीव पृथ्वी से गायब हो गए। जो जीवधारी बच रहे, वे अत्यन्त छोटे आकार-प्रकार के थे, जैसे छिपकलियाँ, साँप, मगर, कछुआ आदि, जो आज तक उष्ण कटिबन्ध में पाए जाते हैं। प्रारम्भ के

मनुष्य के उत्पन्न होने से पहले पृथ्वी पर पाए गए जीव, जो हाथी से भी दुगुने आकार के होते थे।

इन जीवधारियों का रक्त ठण्डा रहता था और ये गर्म स्थानों में ही रह सकते थे। भूकम्प के बाद पृथ्वी ठण्डी हो रही थी, अतः
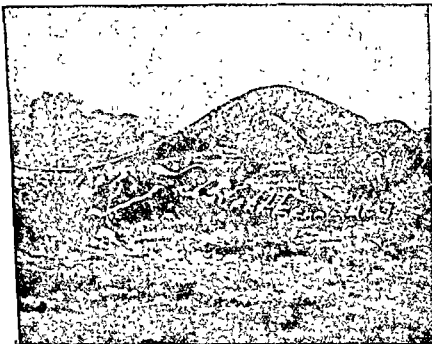
अल्लो सौरस, जो मनुष्यों की उत्पत्ति के पहले इस पृथ्वी पर विचरता था।

प्रारम्भ के सभी जीव नष्ट होते गए और उनके स्थान पर गर्म रक्त वाले जीव उत्पन्न होते गए, जिनके रीढ़ की हड्डी भी होती थी।

स्तनधारी चौपाए

इसी समय पक्षियों का जन्म हुआ, जो हवा में उड़ते थे। स्तनधारी चौपायों में भी उस समय लोमड़ी से बड़ा कोई जानवर नहीं था। ये सब पृथ्वी पर इधर-उधर फैल गए थे। इनका जन्म किन स्थानों में कब हुआ, इसका पता अब तक नहीं लग सका।

केवल यही ज्ञात हो सका है कि दक्षिण अफ्रीका के कुछ प्रदेशों में पेट के बल रेंगनेवाले छोटे-छोटे स्तनधारी जीव होने लगे थे। उस युग के एक अविकसित पक्षी और एक छोटे-से स्तनधारी सुन्दर जानवर का भी पता लगाया जा चुका है।

इन जीवधारियों में अब तक जीवन-संग्राम के अनुकूल मस्तिष्क नहीं होता था। वह अब तक छोटा ही होता था। यहाँ तक कि ८० फुट तक लम्बे और पेट के बल रेंगनेवाले जीवधारियों में जो मस्तिष्क पाया जाता था, वह मुर्गी के साधारण अण्डे से बड़ा नहीं होता था। ज्योंही चौपाए गर्म रक्तवाले होने लगे, उनका मस्तिष्क भी पहले से बड़ा और पेचीदा होने लगा। यहीं से बुद्धि-विकास का श्रीगणेश हुआ। स्तनधारी चौपाए न केवल आकार में बड़े होने लगे, बल्कि उनका मस्तिष्क भी पहले से उन्नत होने लगा और उनकी संख्या भी बढ़ने लगी। पेट के बल रेंगनेवाले जीवधारियों से ये सर्वथा भिन्न थे। ये चौपाए दलदलों आदि से निकलकर घास के मैदानों में चले गये, जो पृथ्वी पर बहुत बड़े भाग में अब तक फैल चुके थे।

घास चरनेवाले ये चौपाए भी धीरे-धीरे अपनी शक्लें बदलने लगे और आजकल की तरह होने लगे। इनके बाद मांसभक्षी जानवर होने लगे, जैसे, शेर, भालू, कुत्ते आदि।

वन-मानुष

जब घास चरनेवाले चौपायों में यह परिवर्त्तन हो रहा था, तभी जंगलों में रहनेवाले बन्दरों-जैसे जीवधारियों में भी तेजी से परिवर्त्तन होने लगा। उनका मस्तिष्क उन्नत होने लगा और आकार भी बड़ा होने लगा। यही शायद बदलते-बदलते मनुष्य-जैसी उल्लेखनीय उन्नति कर गए। इस प्रकार वनमानुष का प्रादुर्भाव हुआ, जो मनुष्य का पूर्वज माना जाता है। मनुष्य के

वानर की आकृति का मनुष्य

मानव-आकृति का वानर

शरीर का ढाँचा पहले के जंगली स्तनधारी चौपायों से ही उद्‌भूत हुआ, इसके अनेक प्रमाण पाए गए हैं।

इस प्रकार आजकल के मनुष्य की उत्पत्ति बड़ी रहस्यमयी है। भूगर्भ-स्थित विभिन्न कंकालों के आधार पर ही प्रागैतिहासिक काल से लेकर अब तक के कंकालों की परीक्षा कर विद्वानों ने इस सम्बन्ध में विश्वसनीय विचार प्रकट किए हैं। जो भी हो, मनुष्य का जो सबसे अन्तिम विकास हुआ है, वह है उसके मस्तिष्क का विकास। मनुष्य अपनी बुद्धि के सहारे ही दुनिया पर राज्य करता है।

पृथ्वी की इस उन्नति में कितने वर्ष लगे, इसे कोई नहीं जानता। यदि इसका पता भी लग जाये, तो उसे हम सहज ही समझ न सकेंगे। कारण, वर्षों की यह संख्या कई लाखों में निकलेगी। मनुष्य का जो उन्नत रूप आज दिखता है, वह कई लाख वर्षों के बाद हो सका है। अनुमान लगाया गया है कि पृथ्वी पर जीवधारी उत्पन्न होने से लेकर अब तक कम से कम तीन अरब वर्ष पूरे हो चुके हैं।

मनुष्य का आदिम रूप

जिस पृथ्वी पर आज हम इतनी चमक-दमक, भीड़-भाड़, गाँव-नगर और नर-नारी देखते हैं, उस पर बहुत समय तक प्रारंभ में एकदम सन्नाटा था, सुनसान था; मनुष्य का कहीं कोई नाम-निशान भी नहीं था, तब कोई धर्म नहीं था, कला नहीं थी। घर नहीं थे, गाँव नहीं थे।

पृथ्वी के विभिन्न भागों में खुदाई करके और पुरानी गुफाओं आदि को देखकर भूगर्भ-वेत्ताओं ने पृथ्वी के इतिहास को चार भागों में विभाजित किया है। इन चार भागों में से पहले दो भागों में मनुष्य अथवा उससे मिलते-जुलते किसी प्राणी का कोई चिह्न नहीं पाया गया। तीसरे भाग के अन्त में ऐसे बन्दरों के चिह्न अवश्य पाए गए हैं, जिन्हें हम मनुष्य का पूर्वज कह सकते हैं।

इसी तीसरे भाग में ऐसी अनेक बातें हुईं, जिनसे दुनिया का इतिहास ही बदल गया। इसी युग में अमरीका में पश्चिमी पर्वत-मालाएँ बनने लगी थीं; कोलोरेडो नदी बड़े दर्रे की खुदाई करने लगी थी और एशिया में पर्वतराज हिमालय ऊँचा उठने लगा था, जिससे कि उत्तर और दक्षिण के बीच एक बड़ी दीवार खड़ी हो सके। जलवायु और वनस्पतियाँ भी रूप बदल रही थीं। जीवधारियों में भी उस समय बड़े-बड़े परिवर्त्तन होने लगे थे। भीमकाय जानवरों का लोप होने लगा था और छोटे तथा फुर्तीले दुधार जानवरों का जन्म होने लगा था। यही जीव धीरे-धीरे आज के जानवरों का रूप ले बैठे।

हमारा पूर्वज वनमानुष

उसी समय मनुष्य के पूर्वज—वनमानुष—इस पृथ्वी पर

अवतरित हुए। तब इनका आकार ऊँचा नहीं था। इनके दाँत और पंजे बहुत कमजोर थे। शत्रुओं से वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते थे। परन्तु उस समय तक इनमें बुद्धि का पर्याप्त विकास हो चुका था। अब ये अपने अगले पैरों का उपयोग भुजाओं और हाथों की तरह करने लगे थे। बड़े मस्तिष्क ने अधिक बुद्धि और स्वतन्त्र हाथों के द्वारा संसार - विजय का श्रीगणेश किया। धीरे-धीरे वह सारे संसार का मालिक हो गया।
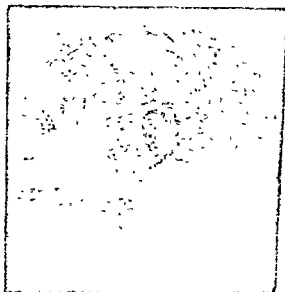
मनुष्य का प्रारम्भिक रूप

प्रारम्भ के इन प्राणियों की बहुत कम बातें हमें मालूम हैं। उत्तर-पश्चिम भारत की शिवालिक पहाड़ियों में ऐसे जानवरों के दाँत और जबड़े पाए गए हैं, जिन्हें हम मनुष्य के पूर्वज कह सकते हैं। ये पूर्वज वनमानुष थे। जर्मनी और आस्ट्रिया में भी ऐसे ही दांत और जबड़े पाए गए हैं।

मनुष्य के रूप में सुधार

पृथ्वी में प्रारम्भ से ही ज्वालामुखी पर्वत हैं, जो समय-समय
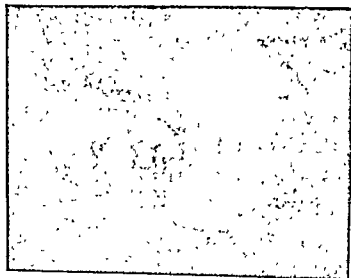
मनुष्य का सुधरता हुआ आदिम रूप
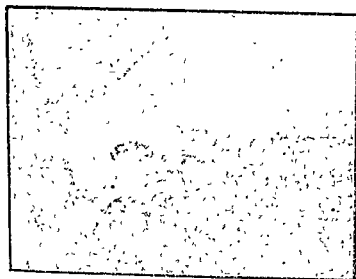
पर फट पड़ते और इतनी आग उगलते हैं कि आस-पास के प्राणियों को या तो भस्म कर देते हैं अथवा इन पहाड़ों के बड़े-बड़े हिस्सों के फट पड़ने से वहाँ के प्राणी दबकर मर जाते हैं—समाधिस्थ हो जाते हैं। धीरे-धीरे उनके ऊपर मिट्टी और चट्टानों की तहें जमती जाती हैं और ये प्राणी भू-गर्भ में विलीन हो जाते हैं। ऐसी दशा में सैकड़ों और हजारों वर्षों तक इनकी हड्डियाँ भू-गर्भ में पड़ी रहती हैं। सोलो नामक नदी ने जावा के एक पुराने ज्वालामुखी की तलहटी में, मिट्टी की तहों को बड़ी गहराई तक काट दिया और उनमें सुरक्षित जानवरों आदि की हड्डियों तथा पेड़-पौधों के कुछ भागों को प्रकट कर दिया।

एमस्टरडम विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ० डुबोय ने सन् १८६१ ई० में जावा में पाई गई ऐसी हड्डियों की खोजबीन करके यह पता लगाया कि मनुष्य को वनमानुष की सन्तान तो कहा जाता है; परन्तु वनमानुष और आजकल के मनुष्य के रूप में जो अन्तर पाया जाता है, यह कैसे हुआ। इन दोनों रूपों के बीच किस तरह मनुष्य में परिवर्तन और सुधार हुआ।

जावा में लगभग २४ प्रकार के प्राणियों की सैकड़ों हड्डियाँ खुदाई द्वारा प्राप्त की गईं। इसी सिलसिले में डॉ० डुबोय को मनुष्य की एक ऐसी दाढ़ मिली, जो भारतवर्ष में पाई गई मनुष्य की दाढ़ से मिलती-जुलती थी। इससे मनुष्य के पूर्वज के सम्बन्ध में बहुत-सी आवश्यक बातें मालूम हो गईं। उसमें होनेवाले परिवर्तन और सुधार का भी बहुत-कुछ पता चल गया।

यह सफलता पाकर प्रोफेसर डुबोय ने खुदाई का काम जारी रक्खा और उन्हें एक आदिम नर-खोपड़ी का ऊपरी भाग तथा टाँग की ऊपरी हड्डी भी प्राप्त हुई। एक दूसरी दाढ़ भी उन्हें मिल गई। इन दाढ़ों से यह साफ पता चल गया कि जिसकी ये दाढ़े

हैं, वह वनमानुप की भाँति नहीं, बल्कि आजकल के मनुष्य की भाँति भोजन चबाता रहा होगा।

एक बच्चे की खोपड़ी भी इसी खुदाई में मिली थी। यह खोपड़ी किसी बड़े लंगूर की खोपड़ी के बराबर थी। आँखों के ऊपर का भाग एकदम ढलवाँ और ललाट पीछे की तरफ एकदम नीचा था। आज के किसी मनुष्य का ललाट इतना नीचा नहीं होता। इस खोपड़ी का मस्तिष्क किसी भी बड़े-से-बड़े वनमानुप के मस्तिष्क से आधा पाया गया। आकार में यह मस्तिष्क मनुष्य और वनमानुप के बीच का था। विद्वानों का मत है कि जिसकी यह खोपड़ी है, वह मन्द बुद्धिवाला व्यक्ति रहा होगा।

मनुष्य के रूप का क्रमिक विकास

जावा में की गई इन खोजों के आधार पर भी यह दावा नहीं किया जा सकता कि जावा में ही आज के मनुष्य के पूर्वज जन्मे थे। हाँ, चीन के प्राचीन मनुष्यों से स्पष्ट रूप में इनका सम्बन्ध है। इन दोनों देशों के मनुष्यों में बड़ी समानता पाई जाती है।

जावा का सम्बन्ध प्राचीन काल से ही भारत से था। भारत से

लेकर जावा तक और जावा से चीन तक एक खुला हुआ स्थल-मार्ग था। जावा से सुमात्रा, मलाया, स्याम और इण्डोचीन को जानेवाले मार्ग भी थे।

प्रारम्भिक मनुष्य

जिन लोगों ने मनुष्य की बनावट पर विचार किया है, उनका कहना है कि आरम्भ में मनुष्य पेड़ों पर रहते थे। इसके पहले का मानव दलदलों में पेट के बल चलता था। जब पृथ्वी सूखकर कुछ कड़ी हो गई, तब मनुष्य ने पैरों से चलना सीखा। प्रारम्भ में माताएँ अपने बच्चों को पेड़ की पतली शाखाएँ पकड़ा देती थीं और वे इन शाखाओं को पकड़कर उसी तरह झूलते-लटकते रहते थे, जिस प्रकार वनमानुष के बच्चे। मनुष्य की मुट्ठी में जो बल होता है, उसका शायद यही कारण है। कुछ लोगों का कथन है कि पृथ्वी पर पेड़ न होते, तो सम्भवतः मनुष्य भी जानवरों की भाँति चार पैरों से चलनेवाला जीव होता।

आरम्भ में मनुष्य की बुद्धि इतनी तीक्ष्ण नहीं थी, जितनी आजकल है। आरम्भ में उसकी आवश्यकताएँ भी बहुत कम थीं। उसका शरीर वर्षा, धूप और ठंढ अधिक सह सकता था। वह कच्चा मांस और कच्चे फल-फूल खाकर काम चला सकता था। बातचीत के लिए पहले सांकेतिक आवाजों से वह काम लेता था, फिर उसने शब्दों की रचना की और भाषा को जन्म दिया। ज्यों-ज्यों मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती गईं, वह नई-नई चीजों और हथियारों की खोज करता गया।

आग की खोज

सबसे पहले मनुष्य ने पत्थर के हथियार बनाए। ये हथियार एक प्रकार से पत्थर के टुकड़े ही थे। इनसे ही वह हथौड़े और तीर-भाले का काम लेता था। धातु के हथियार बनाने से

पहले वह आग का पता चकमक पत्थरों की सहायता से लगा चुका था। आग को जीवित रखने के लिए उसमें वह पेड़ों की सूखी पत्तियाँ निरन्तर फेंकता रहता था। इतिहास-लेखकों ने मनुष्य के इसी युग को 'प्रस्तर-युग' कहा है।

अनुमान किया जाता है कि आग उत्पन्न करने का तरीका सबसे पहले चीन में रहनेवाले मनुष्य ने खोज निकाला था। कई गुफाओं के पास ही मांस पकाने के लिए आग उत्पन्न करने के प्रमाण मिले हैं। ऐसे स्थलों पर लगभग दो हजार पतले और अनगढ़ पत्थर के टुकड़े पाए गए हैं, जो उसके हथियार रहे होंगे। यह काम मनुष्य ने अपनी बुद्धि के सहारे ही किया होगा। कारण, वनमानुष पत्थर फेंक सकता है; परन्तु इस प्रकार एकत्र करके नहीं रख सकता और न उनको बना ही सकता है।

नरभक्षी मनुष्य

चीन में पाई गई अनेक खोपड़ियों से यह पता चलता है कि वहाँ प्रारम्भ में मनुष्य या तो नरमुण्डों का शिकार करता था या नर-भक्षी था। ऐसे प्रमाण अधिक मिले हैं, जो यह बतलाते हैं कि सिर के नीचे का भाग काटकर अलग कर दिया जाता था। खोपड़ियों से मस्तिष्क निकालकर खा लेने का भी अनुमान लगाया गया है। यह शायद इसलिए किया जाता होगा कि शिकार किए गए प्राणी के अच्छे गुण और उसकी शक्ति प्राप्त की जा सके। आज भी कुछ आदिम निवासी अपने शत्रुओं का हृदय, कलेजा अथवा मस्तिष्क खाया करते हैं।

इस प्रकार की खोजों से पाँच लाख वर्ष पहले के मनुष्य की जो रूप-रेखा हमारे सामने आती है, वह इस प्रकार है—बड़ी-बड़ी सघन भौंहें, आगे को निकला हुआ चेहरा, ठुड्डी विहीन जबड़ा, जिसमें आदिम वासियों से मिलते-जुलते और जमे हुए दाँत;

ललाट नोचा और मस्तिष्क का अग्र भाग परिष्कृत। उस समय तक पृथ्वी के इतिहास में जो भी प्राणी हुए, उन सबमें इस मनुष्य का मस्तिष्क और मन दोनों श्रेष्ठ थे।

मनुष्य जब पत्थर के हथियारों और आग का प्रयोग करने लगा, तब दुनिया के अन्य सभी प्राणियों में उसका स्थान ऊँचा हो गया। पत्थर के बेढंगे औजारों से ही वह अजगर और हाथी जैसे जानवरों को मार गिराता था। हाथियों की हड्डियों से भी मनुष्य हथियार बनाना सीख गया था।

उस समय मांस पकाने का तरीका भी अजीब था। कड़ाई और पतीली तो उस समय तक मनुष्य बना नहीं सका था। छोटे-छोटे गड्ढे बनाकर उनमें वे लोग पानी भरते थे और उनके पास ही आग जलाकर पत्थर के टुकड़ों को गर्म करते थे। जब पत्थर के टुकड़े खूब गर्म हो उठते थे, तब उन्हें लुढ़काकर वे पानी के गढ़ों में छोड़ देते थे और उसी में मांस के टुकड़े छोड़ देते थे। इस तरह पानी खौलने लगता था और मांस पक जाता था। आग में भूनकर भी वे लोग मांस खाया करते थे। गाय, बैल, भेड़, घोड़ा आदि जानवर उस समय तक पालतू अवस्था में नहीं थे।

प्रस्तर-युग बीतने पर मनुष्यों ने धातुओं और उनके औजारों के सम्बन्ध में बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उन्हीं दिनों उसने खेती करना, मिट्टी के बर्तन बनाना और पतीली में चावल पकाना सीखा। इस युग को 'धातु-युग' कहा जाता है, जिसमें लगभग दस हजार वर्ष बीते होंगे। धातु-युग के पश्चात् ही मनुष्य की उन्नति होने लगी और धीरे-धीरे वह इतना उन्नत हुआ कि सारी पृथ्वी का स्वामी बन बैठा।

अनुकरणशील प्राणी

मनुष्य और उसके कार्यों का जहाँ तक पता चलता है, यही पाया जाता है कि रीति-रिवाज अथवा किसी वस्तु का जो चलन

एक बार हुआ नहीं कि उसकी नकल बहुत समय तक की जाती है। पत्थर के हथियारों, घरों, पोशाकों आदि का जो ढंग एक बार शुरू हुआ कि बस आस-पास के लोग उसको अपना बैठे। आज तक मनुष्य में यही स्वभाव पाया जाता है कि वह अपने आसपास के लोगों की तरह रहना, पोशाक पहनना आदि पसन्द करता है। अनुकरण करने की प्रवृत्ति मनुष्य में आरम्भ से लेकर अब तक पाई जाती है।

पत्थर की कुल्हाड़ी का आविष्कार सबसे पहले फ्रांस में रहने-वाले मनुष्य ने किया। उसकी सहायता से वह बर्फ की शिलाओं, झाड़-पेड़ों आदि को काट सकता था और शिकार कर सकता था। अपनी रक्षा भी वह इसी कुल्हाड़ी से किया करता था।

यह कुल्हाड़ी आज जैसी नहीं थी। तब उसमें मूठ नहीं थी। उसका आकार-प्रकार भी बेढंगा था। उस युग में संस्कृति कितनी धीमी गति से आगे सरकती थी, इसका प्रमाण यही है कि पत्थर की ऐसी कुल्हाड़ी हजारों वर्षों तक चलती रही। उसकी बनावट में थोड़ा-बहुत सुधार अवश्य होता गया, परन्तु उसका मूलरूप वही रहा। हजारों वर्षों के बाद कहीं मनुष्य इस कुल्हाड़ी में मूठ लगाने की बात सोच सका और आज तक जो कुल्हाड़ी काम में लाई जाती है, वह उसी पुराने युग की देन है। इसके बाद नुकीले तीर और भाले बनाए गए।

प्राचीन काल के आदिम निवासियों के सम्बन्ध में बहुत कम बातें मालूम हो सकी हैं। कारण, वे खुले मैदान में रहते थे—सम्भवतः आजकल के पिग्मियों की तरह। प्राचीन मनुष्य के प्रायः सभी चिह्न नष्ट हो चुके हैं, केवल पत्थर की वस्तुएँ बच रही हैं। जर्मनी, जावा, भारत, मिस्र आदि में कहीं-कहीं भूगर्भ में प्रकृति ने प्राचीन मानव के कुछ चिह्न सुरक्षित रख छोड़े हैं,

जिनके आधार पर उसकी आकृति, चाल-चलन आदि बातों का पता लगाने में सुविधा हो सकी।

ठुड्डी-विहीन मनुष्य-

जर्मनी में हीडिलबर्ग के पास एक गहरे गड़े हुए मिट्टी के बर्तन में एक बड़ा-सा जबड़ा पाया गया था, जिसके साथ कुछ जानवरों की हड्डियाँ भी थीं। ये लगभग तीन लाख वर्ष पुराने मनुष्यों और जानवरों की हड्डियाँ थीं। यह जबड़ा आज के मनुष्य के जबड़े से बहुत बड़ा है और ठुड्डी के स्थान पर इसमें एकदम उतार है। इसका चेहरा वनमानुष की तरह रहा होगा और यह व्यक्ति ठुड्डी-विहीन रहा होगा, परन्तु सारे दाँत मनुष्य-जैसे ही पाए गए हैं। यह जबड़ा जिसका रहा होगा, उसे हम मनुष्य कहने का दावा शायद ही कर सकते, यदि योरप के गुफा-निवासी मनुष्य के जबड़े और दाँतों तथा इस जबड़े में समानता न पाई जाती।

वनमानुष-जैसे दाँतवाली स्त्री

इसी तरह इँगलैंड के ससेक्स नामक स्थान में एक नदी के तट पर लगभग डेढ़ लाख वर्ष पहले की एक ऐसी स्त्री की खोपड़ी और जबड़ा पाया गया है, जो मनुष्य के सुधरे हुए रूप और आदिरूप का अद्भुत सम्मिश्रण है। खोपड़ी तो सुधरते हुए मनुष्य जैसी है; परन्तु जबड़ा और दाँत वनमानुष की भाँति हैं। परन्तु इसे अपवाद ही माना गया है।

चित्रकला

आदिकाल के इन मनुष्यों को चित्रकला का भी ज्ञान था। उनके पास कागज, कलम, पेंसिल या ब्रश नहीं थे। उनके पास तो पत्थर के नुकीले औजार थे और उन्हीं की सहायता से

वे गुफाओं की दीवारों पर जानवरों की तसवीरें बनाया करते थे। इन तसवीरों से भी उस समय के मनुष्य का बहुत-कुछ हाल मालूम होता है।

आज मनुष्य ने बहुत उन्नति कर ली है, परन्तु संसार के सभी मनुष्यों की उन्नति समान रूप से नहीं हुई है। आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और जापान के कुछ भागों में अब भी मनुष्यों की ऐसी जातियाँ बसती हैं, जो प्रस्तर-युग के मनुष्यों से मिलती-जुलती हैं और उन्हीं की भाँति रहती हैं। इनके हथियार भी वैसे ही हैं, जैसे दस हजार वर्ष पहले के मनुष्य के थे। परन्तु संसार की सभ्यता जिस तीव्र गति से आगे बढ़ रही है, उसका प्रभाव इन सभी लोगों पर अवश्य पड़ेगा और एक दिन ये भी सभ्य हो जायँगे।

असाधारण वनस्पतियाँ

अजायब-घरों में भीमकाय प्राणियों और पेट के बल रेंगने-वाले जीव-जन्तुओं, अजगर, मगर आदि के सुरक्षित कंकालों को देखकर हम यह सोच, भय से भर उठते हैं कि ये प्राणी भी कभी इस पृथ्वी पर इधर-उधर चलते-फिरते रहे होंगे; लेकिन आज भी तो अनेक भीषण और भयावह जीवधारी इस पृथ्वी पर विद्यमान हैं, जिन्हें हम बहुधा भूले रहते हैं। समुद्र में जो ह्वेल-मछली होती है, उसकी लम्बाई ६० से ७० फुट तक होती है। इसी तरह एशियाई विशालकाय हाथी और जिराफ-जैसे ऊँचे जानवर आज भी हमारी पृथ्वी पर हैं, जो पूर्वकालीन किसी भी भीषण और भयावह जानवर से कम नहीं है।

राक्षसी वनस्पतियाँ

वनस्पतियों में भी हमें अनेक प्रकार के राक्षसी अथवा असाधारण वृक्ष और झाड़ियाँ मिलती हैं। समुद्रों में भी अनेक प्राचीन पौधे भीमकाय और आश्चर्यजनक रंग-रूप के पाए जाते हैं। इनकी लम्बाई-चौड़ाई और आकार-प्रकार को देखते हुए हमें इनको राक्षसी वनस्पतियाँ ही कहना पड़ता है। कुछ बाँस १२० फुट तक ऊँचे होते हैं, जिनका व्यास एक फुट से कुछ ही कम होता है, और ये बाँस केवल तीन महीने में ही इतने ऊँचे हो जाते हैं। यों इन बाँसों का आकार भारी भरकम नहीं होता, परन्तु जब हम यह विचार करते हैं कि बाँस एक प्रकार की घास का ही पौधा है, तब हमें ऐसे बाँसों को राक्षसी वनस्पतियों में ही गिनना पड़ता है।

कुछ चीड़ के वृक्ष भी ऊँचाई में इन बाँसों के बराबर ही होते

हैं; परन्तु साधारणतः सौ फुट से ऊँचे नहीं होते और तने का व्यास तीन या चार फुट होता है। इतने पर भी हम उन्हें राक्षसी या असाधारण वृक्षों की श्रेणी में नहीं गिन सकते, कारण इतनी ऊँचाई और व्यास प्राप्त करने में उन्हें कई वर्ष लग जाते हैं। इसी तरह उन प्राचीन ओक वृक्षों को भी हम असाधारण नहीं कह सकते, जिनकी शाखाएँ प्रकांड रूप धारण कर चुकी हैं। उदाहरणार्थ वेलवैक के ग्रीनडेल ओक का नाम लिया जा सकता है, जिसके तने में पोर्टलैण्ड के एक निर्दय ड्यूक ने १० फुट ऊँची और ६-११५ फुट चौड़ी मेहराब काटकर बनाई थी, जिसमें से उसकी छह घोड़ोंवाली बग्घी सहज ही निकल सकती थी।

कैलीफोर्निया के असाधारण वृक्ष

कैलीफोर्निया का प्रसिद्ध विशाल वृक्ष वेलिंगटोनिया सचमुच राक्षसी वृक्षों में गिने जाने योग्य है। इसकी ऊँचाई ३०० फुट से भी अधिक और इसके तने का घेरा ८० से १०० फुट तक होगा। तने के घेरे का क्या अर्थ है, इसे तो दक्षिण केंसिंगटन में ब्रिटिश म्यूजियम (अजायब-घर) के बोटेनिकल विभाग में जाकर ही देखा-समझा जा सकता है। यहाँ एक वृक्ष के तने का एक ऐसा खण्ड है, जिसमें १,३३५ वृत्त हैं, परन्तु इनमें से प्रत्येक वृत्त एक वर्ष का सूचक है अथवा आधे वर्ष का, इस सम्बन्ध में मतभेद है। चीड़ के इस वृत्त-खंड की उम्र का ठीक-ठीक पता लगाने में इसीलिए विभिन्न मत हैं।

वेलिंगटोनिया वृक्ष कैलीफोर्निया की पहाड़ी घाटियों में, समुद्र-सतह से ४,५०० फुट की ऊँचाई पर ही उत्पन्न होता है। इसके विशालकाय होने का कारण यही प्रतीत होता है कि ठण्डी हवाओं से यह सुरक्षित रहता है और जिस जमीन में यह उगता है, वह वर्षा के जल की प्रचुरता से नहीं, बल्कि लगातार पिघलनेवाले अधिक हिमपात के कारण नम (तर) रहती है।
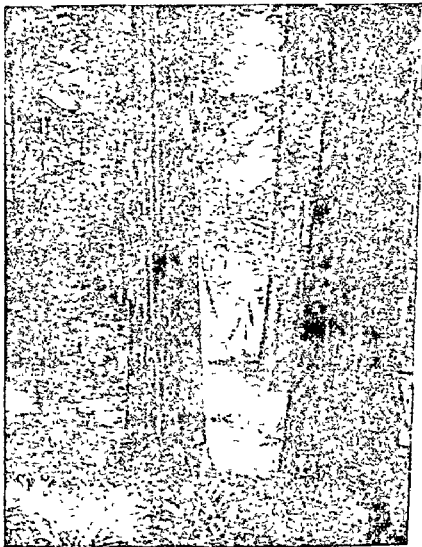
असाधारण ऊंचाईवाले वृक्ष

कैलीफोर्निया के 'रैडवुड' नामक वृक्ष को भी राक्षसी वनस्पतियों में गिना जा सकता है। इस वृक्ष की इमारती लकड़ी बहुत प्रसिद्ध है। प्रशांत महासागर की ओर ढालू भू-भाग पर इस वृक्ष के बड़े-बड़े जंगल खड़े हैं। रैडवुड की ऊँचाई ३०० फुट तक होती है और इसके तने की मुटाई, जिसमें बहुत मोटी छाल भी सम्मिलित है, १५ से २० फुट तक होती है। गावदुम फलवाले वृक्षों में साधारणतः जो विशेषताएँ पाई जाती हैं, उनके सर्वथा विपरीत यह रैडवुड वृक्ष जब काट दिया जाता है, तब इसके ठूंठ में से अपने-आप शाखाएँ फूटकर निकल आती हैं और यह पुनः बढ़ने लगता है।

आस्ट्रेलिया में ऐसे अनेक गोंदवाले वृक्ष पाए जाते हैं, जिनकी ऊँचाई राक्षसी वृक्षों से भी अधिक होती है, भले ही उनके तने कुछ कम मोटे हों। ये वृक्ष न केवल इमारती लकड़ी के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं; बल्कि तेल आदि के उत्पादन के लिए भी बड़े काम के हैं।

आस्ट्रेलिया के गोंदवृक्ष

अमरीका और आस्ट्रेलियावालों में असाधारण अथवा राक्षसी वृक्षों की ऊँचाई और मुटाई को लेकर प्रतिस्पर्द्धा चलती रही। इसलिए सम्भव है, जो ऊँचाई अथवा मुटाई दी गई है, वह वास्तविक न होकर कुछ अधिक हो, परन्तु आजकल यह सम्भव नहीं। लगभग ५० वर्ष पूर्व एक नीलगिरि के वृक्ष की ऊँचाई ५२२ फुट बतलाई गई थी। मि० थामसवर्ड ने लिखा है कि गोंदवाले वृक्षों में उन्होंने ५०० फुट से ऊँचा कभी कोई वृक्ष नहीं देखा। उन्होंने गोंदवाले ऐसे अनेक वृक्षों की ऊँचाई नापकर देखी है, जो ४४० फुट से अधिक ऊँचे पाए गए। आपने यह भी लिखा है कि सन् १८६० ई० तक ४०१ फुट तक की ऊँचाई-

वाले हजारों गोंदवृक्षों को विक्टोरिया के जंगलों में व्यर्थ ही काट-कर गिरा दिया गया था। इनके तने की मुटाई का घेरा औसतन ४० और ५० फुट के बीच रहा होगा। एक वृक्ष की जड़ों से पाँच फुट की ऊँचाई पर उन्होंने तने का जो घेरा नापा था, वह ८८ फुट था। एक दूसरे अन्वेषक मि. जे. डी. पीयर्स ने एक ऊँचे-से-ऊँचे गोंद वृक्ष की ऊँचाई केवल ३२६ फुट १ इंच नापी थी।

गोंद वृक्ष का अन्य कोई विशेष नाम नहीं है। गोंद अथवा राल जैसा पदार्थ इसकी छाल से पाया जाता है, अतः इसका सीधा-सा नाम 'गोंदवृक्ष' ही पड़ गया है। गावदुम फलवाले अन्य विशाल वृक्षों की भाँति ये नहीं होते, परन्तु सदाबहार वृक्षों की श्रेणी में गिने जाते हैं। इन गोंदवृक्षों में मोटे और गूदेदार पत्ते होते हैं। इनकी इमारती लकड़ी से मकान और जहाज बनाए जाते हैं।

कुछ असाधारण वृक्ष देखने में जैसे भारी-भरकम होते हैं, वास्तव में उनकी असाधारणता वैसी ही नहीं होती। ताड़ और खजूर के वृक्षों पर तने की चोटी पर बारह-बारह फुट लम्बे पत्तों का बड़ा छत्ता-सा दिखलाई पड़ता है, जिससे वे असाधारण प्रतीत होते हैं; परन्तु इनकी ऊँचाई शायद ही कभी १५० फुट से अधिक पाई जाती हो। चीड़ के वृक्ष भी अनुकूल परिस्थितियों में इतने ऊँचे हो जाते हैं। परन्तु ताड़ वृक्ष की जाति में कुछ ऐसे पौधे होते हैं, जो लम्बाई में सचमुच राक्षस कहे जा सकते हैं। बेत का पौधा ऐसा ही लम्बा राक्षस है, जो ४०० से लेकर ६०० फुट तक लम्बा होता है। इसके पत्तों के डंठल पर एक काँटा-सा होता है, जिसके सहारे यह दूसरे वृक्षों पर आसानी से चढ़ता जाता है।

फूल भी राक्षसी होते हैं!

फूलवाले पौधों में भी कुछ राक्षसी श्रेणी के होते हैं। ब्रिटिश

झाड़ियों में एक पौधा ऐसा होता है, जिसका १० फुट लम्बा पत्ता पन्द्रह फुटवाले डंठल पर उगता है और फूल की कली तीन फुट लम्बी होती है। वहीं पर 'कुरुवत' नामक एक धागे-जैसा परजीवी पौधा होता है, जो अंगूरी लता के नीचे छिपा रहता है और जीवित रहता है। एक वर्ष में यह पौधा केवल एक बार आमतौर पर दिखलाई पड़ता है, सो भी एक गज लम्बे-चौड़े फूल के रूप में, जिसका वजन लगभग १५ पौंड होता है। इन दोनों पौधों का रंग ऐसा घृणोत्पादक होता है कि छोटे-छोटे कीटाणु और मक्खियाँ इनकी ओर आकृष्ट हो जाती हैं और सम्भवतः यही इनका भोजन होता है।

अमेजान नदी की सुप्रसिद्ध कुमुदिनी इतनी विशाल होती है कि पानी पर तैरते हुए इसके पत्ते लगभग दो गज चौड़े होते हैं, जिन पर बारह वर्षीय बालक भी सरलतापूर्वक बैठ सकता है। इसके नेत्ररंजक गुलाबी और सफेद फूल लगभग १५–१६ इंच तक लम्बे चौड़े होते हैं।

फूलहीन पौधों में भी कुछ असाधारण कोटि के होते हैं। जब हम आस्ट्रेलिया के फर्न वृक्षों (पर्णाङ्ग) की तुलना अन्य देशों के फर्न वृक्षों से करते हैं, तब यह बात स्पष्ट हो जाती है। फर्न वृक्ष लगभग २०० प्रकार के होते हैं। नारफोक द्वीप में ८० फुट तक ऊँचे फर्न होते हैं। ये वृक्ष ताड़ जैसे लम्बे होते है।

उष्ण कटिबन्धीय अमरीका मे ईक्वीसेटस नामक एक वृक्ष ऐसा होता है, जिसका पत्रविहीन सीधा तना २० से ४० फुट तक ऊँचा रहता है।

समुद्री वनस्पतियाँ

इंग्लैण्ड के समुद्रों में सेवार के कुछ पौधे २० फुट तक लम्बे पाए जाते हैं। इनके शाखावत पत्र किनारे की चट्टानों से सटे रहते हैं

और समुद्र की भयावह लहरों से मुठभेड़ करते रहते हैं। इनका आकार और शक्ति फ्यूजिया के समुद्र तट पर पाए जानेवाले समुद्री पौधों की तुलना में बहुत ही कम है, कारण उनकी लम्बाई लगभग ६०० फुट तक होती है।

डार्विन ने अपनी समुद्र-यात्रा के संस्मरण में इन पौधों के सम्बन्ध में बड़ा आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखा था कि पश्चिमी महासागर की विशाल लहरों से टकराकर जीवित रहने और पनपनेवाले इन पौधों से बढ़कर आश्चर्यजनक वस्तुएँ बहुत ही कम दिखाई देती है, कारण कोई भी कड़ी-से-कड़ी शिला भी इन लहरों से टकराकर अधिक समय तक बच नहीं सकती।

समुद्र में उत्पन्न होनेवाली एक वनस्पति की बेल मनुष्य की उँगली से अधिक मोटी नहीं होती, जो समुद्र में डूबी हुई चट्टानों से निकलकर लहरों की सतह पर तैरती रहती है। इसके पत्ते लम्बे और दोहरी कतार में होते हैं। समुद्र में इस प्रकार की अनेक राक्षसी वनस्पतियाँ उत्पन्न होती है, जो प्रशांत महासागर के समशीतोष्ण भाग में बहुत पाई जाती हैं। उष्ण कटिबन्धीय समुद्रों में ऐसी वनस्पतियाँ प्रायः नहीं होतीं।

पहाड़ों पर और समुद्र में पाई जानेवाली असाधारण वनस्पतियों के आकार-प्रकार और स्वभाव में बहुत अन्तर पाया जाता है। जंगल-पहाड़ों में उत्पन्न होनेवाले बड़े वृक्ष धरती में गहराई तक अपनी जड़ें फैलाए रहते हैं और धरती से ही पानी तथा खाद्य पदार्थ प्राप्त किया करते है, जो ऊपर पत्तों में जाकर और हवा से प्राप्त कार्बन से मिलकर वृक्ष का पोषण करते है। परन्तु समुद्री घास आदि जड़विहीन होता है, जिससे उसे खाद्य पदार्थ प्राप्त करने में पृथ्वी पर उगनेवाले वृक्षों की अपेक्षा बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कदाचित् इसीलिए इनके तने अधिक
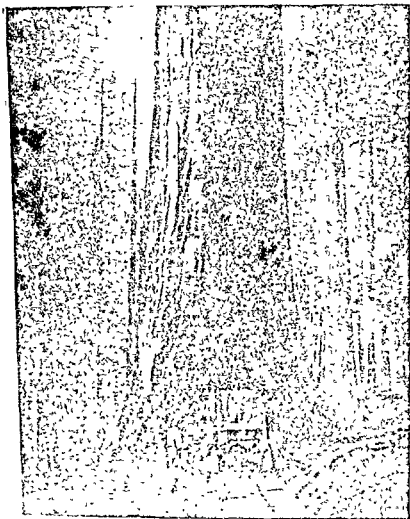
एक असाधारण वृक्ष, जिसके तने को काटकर उसके बीच से मोटर का रास्ता बनाया गया है।

मोटे नहीं हो पाते, और इन समुद्री पौधों के तनों से इमारती लकड़ी भी प्राप्त नहीं हो सकती।

सबसे बड़ा वृक्ष

पृथ्वी पर पाए गए सबसे बड़े वृक्षों में मेरीपोसा उपवन के 'वावोना' नामक वृक्ष का उदाहरण उल्लेखनीय है। इसकी ऊँचाई २८० फुट और व्यास २८ फुट है। इसके तने के निम्न भाग में जो मेहराब काटी गई है, वह १० फुट ऊँची और ९-१।२ फुट चौड़ी है। इसमें से होकर कोई भी मोटरकार आसानी से जा सकती है।

अगणित जटाओंवाला एक विशाल बरगद

राक्षसी वृक्षों में हमारे देश के बरगद का नाम सहज ही लिया जा सकता है। इसकी ऊँचाई ७० से १०० फुट तक होती है और मुख्य तने का घेरा ४० फुट तक पाया जाता है। इसकी शाखाओं

से अनेक जटाएँ फूट निकलती हैं, जो जड़ों की भाँति पृथ्वी में धँस जाती हैं। इस प्रकार आसपास के बहुत बड़े क्षेत्र में बरगद का विस्तार हो जाता है। किसी-किसी बरगद में तो ३५० तक ऐसी मुख्य जटाएँ रहती हैं, जो बड़े-बड़े ओक वृक्षों के समान होती हैं। इनके अतिरिक्त ३,००० तक छोटी-छोटी जटाएँ रहती हैं। ऐसे बरगद के नीचे ७,००० तक आदमी उठ-बैठ सकते हैं और छोटा-मोटा बाजार भी सहज ही भर सकता है। कैरो (मिस्र) में ऐसे विशाल बरगद बहुत हैं।

बड़े-बड़े जल-प्रपात

छोटे-मोटे जल-प्रपात तो हम बहुधा देख लेते हैं; परन्तु दुनिया में कुछ ऐसे बड़े-बड़े और सुन्दर जल-प्रपात हैं, जिन्हें देखने के लिए लोग दूर-दूर से अनेक कष्ट सहकर पहुँचते हैं। सिर्फ कष्ट ही नहीं होता, बल्कि प्राकृतिक सुन्दरता की ऐसी झाँकी देखने के लिए खर्च भी खासा करना पड़ता है। परन्तु हम आज बिना किसी कष्ट और खर्च के, इस लेख में, संसार के कुछ ऐसे जल-प्रपातों की सैर करेंगे, जो न केवल बहुत बड़े हैं, बल्कि जिनकी सुन्दरता भी अनुपम है।

वही जल-प्रपात बड़े और सुन्दर समझे जाते हैं, जिनमें विस्तार, ऊँचाई तथा चौड़ाई के साथ-साथ अपने जल-कणों को उछालने और उनमें इन्द्रधनुष के रङ्ग उत्पन्न करने की विशेषताएँ होती हैं। इनमें भी मुख्यतः दो प्रकार के प्रपात होते हैं। एक तो वे जो बहुत ऊँचाई से गिरते हैं और नीचे जिस स्थान पर गिरते हैं, वहीं उनके पानी की सुन्दरता देखने योग्य होती है। ऐसे प्रपातों में, बीच मे अर्थात् जहाँ से धारा बहती है, वहाँ से लेकर उसके गिरने के स्थान तक, कोई विशेष हलचल नजर नहीं आती; बल्कि चाँदी की एक मोटी-सी चादर ऊपर से नीचे तक चमचमाती हुई बहुत भली दीखती है। इन प्रपातों का विस्तार कम होता है। इनकी ऊँचाई के कारण ही इन्हे बड़ा और सुन्दर कहा जाता है। इस प्रकार के जल-प्रपातों मे अमरीका के केलीफोर्निया का योसमाइट नामक प्रपात सबसे बड़ा है। यह प्रपात १५०० फुट से भी अधिक ऊँचाई से गिरता है। ऊँचाई का जहाँ तक सम्बन्ध है, दुनिया के जल प्रपातों में इसका पहला स्थान है।

जिस स्थान पर इसकी धारा गिरती है, उसकी चौड़ाई सिर्फ ३५ फुट है। इसके आस-पास का दृश्य बहुत ही सुनसान और जंगली है। लाल और नीले पत्थरों की ऊँची-ऊँची चट्टानें आकाश को छू रही हैं। इन्हीं चट्टानों के बीच से इस प्रपात की धारा बहती है। नीचे जिस स्थान पर यह प्रपात गिरता है, वहाँ तरह-तरह के ऊँचे-नीचे वृक्ष और हरी-भरी झाड़ियाँ हैं।

योसमाइट प्रपात

इसी तरह की ऊँचाई के बड़े जल-प्रपातों में ब्रिटिश ग्याइना का १५०० फुट ऊँचा रोरेमा प्रपात, न्यूजीलैंड का
१९०० फुट ऊँचा सदरलैंड प्रपात और दक्षिण अफ्रीका का १४०० फुट ऊँचा कैलम्बो प्रपात भी
बहुत प्रसिद्ध है। लेकिन योसमाइट से बड़ा इनमें से कोई नहीं माना जाता। सदरलैंड प्रपात एक प्रपात नहीं है। इसमें क्रमशः ८१५, ७५१ और ३३८ फुट की ऊँचाई के तीन प्रपात जुड़े हुए हैं। इसी तरह कैलम्बो प्रपात में १२०० और २०० फुट की ऊँचाई से गिरनेवाले दो प्रपात शामिल हैं।

दूसरे प्रकार के जो संसार-प्रसिद्ध जल-प्रपात हैं, उनका आकार-प्रकार बड़ा है, ऊँचाई भले ही उनकी कम हो। इस प्रकार के जल-प्रपातों में उत्तर अमरीका का नियागरा प्रपात, दक्षिण अमरीका का इग्वाजु प्रपात और दक्षिण अफ्रीका का विक्टोरिया प्रपात मुख्य है। इन तीन प्रपातों में वे सभी विशेषताएँ पाई

कैलम्बो प्रपात

जाती हैं, जिनके कारण प्रपातों को बड़ा और सुन्दर कहा जाता है।

नियागरा प्रपात

नियागरा जल-प्रपात दुनिया भर के प्रपातों में सबसे बड़ा, सुन्दर और प्रसिद्ध माना जाता है। उत्तरी अमरीका में संयुक्त राष्ट्र और कनाडा की सीमा पर एरी और ओन्टारियो

झीलों के बीच सेण्ट लारेन्स नदी द्वारा यह प्रपात बनाया गया है। कनाडा के निकट इस नदी की दो धाराएँ हो जाती हैं। एक धारा
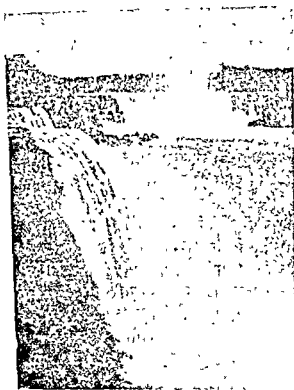
नियागरा प्रपात

संयुक्त राष्ट्र अमरीका में और दूसरी कनाडा में चली जाती है। गोट नामक द्वीप के पास ये दोनों धाराएँ एक गहरे दर्रे में गिरती हैं और नियागरा का जलप्रपात बनाती हैं।

उस चट्टानी ढाल पर पहुँचने के पहले, जिस पर नियागरा का जल-प्रपात हहर-हहरकर शोर मचाता हुआ नीचे गिरता है, यह

गोट द्वीप ही हमें मिलता है। गोट द्वीप नदी को दो धाराओं में बाँट देता है। दाहिनी ओर की धारा से 'अमरीकन' नामक १६७ फुट की ऊँचाई से गिरनेवाले जल-प्रपात का जन्म हुआ है। इसकी चौड़ाई १००० फुट है। बाईं ओर की धारा से 'हार्सशू' (कैनेडियन) नामक १५८ फुट की ऊँचाई से गिरनेवाले जल-प्रपात का जन्म हुआ है। इसकी चौड़ाई ३००० फुट है और यह धारा असम तथा अर्द्धचन्द्राकार रूप में बहुत ही सुन्दर दीखती है। इस प्रकार १३०० फुट चौड़ी इस चट्टानी चादर को ही नियागरा प्रपात की आधार-शिला कहना अधिक ठीक होगा।

ये दोनों जल-प्रपात मिलकर ही नियागरा कहलाते हैं। १३०० फुट की चौड़ाई में पानी की यह धारा तेजी से नीचे की तरफ सरकती हुई चाँदी-जैसी सफेद और चित्ताकर्षक लगती है। इस प्रपात के दोनों ओर ऊँची-ऊँची सुन्दर चट्टानें हैं। यह प्रपात इतनी तीव्रता से नीचे गिरता है कि गिरनेवाली पानी की फुहार उड़कर आकाश में कुहरा बनकर छा जाती है। इन्द्रधनुष भी इस कुहरे के बीच बहुत ही सुन्दर दिखलाई पड़ता है। चाँदनी रात में इस प्रपात की सुन्दरता में चार चाँद लग जाते हैं। दुनिया के कोने-कोने से शौकीन लोग इसे देखने जाते हैं। सुन्दरता के सिवा अमरीकावालों के लिए इससे बिजली उत्पन्न कर अनेक लाभ भी हुए हैं।

विक्टोरिया प्रपात

संसार के जल-प्रपातों में यह सबसे अधिक चौड़ा प्रपात है। अफ्रीका महाद्वीप के मध्य में, ब्रिटिश साऊथ अफ्रीका और बेलजियम काङ्गो की सीमा के निकट ही, जेम्बेजी नदी के पथरीले मार्ग पर विक्टोरिया प्रपात है। इसकी चौड़ाई लगभग एक मील है। ३६० से लेकर ४०० फुट तक की ऊँचाई से इसकी धारा पहाड़ी चट्टानों को तोड़-फोड़कर गिरती है। पहाड़ी चट्टानों के कारण इस

एक मील की चौड़ाई में प्रपात की धारा एक नहीं रह सकी। वह बीच-बीच में अनेक छोटी-बड़ी चट्टानों के कारण छिन्न-भिन्न-सी
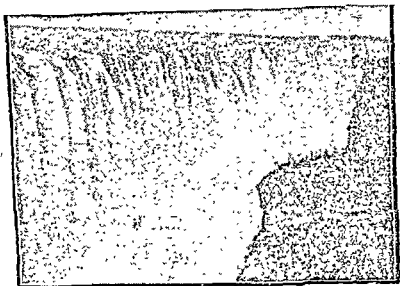
विक्टोरिया प्रपात

हो गई है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो सैकड़ों छोटे-बड़े प्रपात एक धागे में पिरो दिए गए हों। चट्टानों के कारण धाराओं के अलग-अलग हो जाने से इस प्रपात की शोभा भी निराली हो गई है। सूरज की किरणों के प्रकाश में इन धाराओं के उछलते और उड़ते हुए जलकण अत्यन्त मनोमोहक इन्द्रधनुषों को जन्म देते हैं।

विक्टोरिया जल-प्रपात अफ्रीका के घने जंगलों के बीच है। इसलिए इसके बहुत निकट पहुँचना सरल नहीं है। जिस दर्रे में यह प्रपात गिरता है, उस पर ४०० फुट ऊँचा और ६५० फुट लम्बा रेल का एक पुल बनाया गया है। यह रेल-मार्ग

केपटाऊन को जाता है। अधिकांश यात्री इसी रेल के पुल पर से रेलगाड़ी में बैठे-बैठे ही विक्टोरिया प्रपात देख लेते हैं। चट्टानी दर्रे पर गिरनेवाले इस प्रपात का शोर और जल-धाराओं से उत्पन्न तथा आकाश में उड़ता हुआ कुहरा मीलों दूर से सुना और देखा जा सकता है।

विक्टोरिया प्रपात जिस स्थान पर है, उसके पहले जेम्बेजी नदी अपने आस-पास के भू-भागों के लिए बहुत ही उपयोगी है। किनारे पर बसे हुए भू-भागों में वहाँ सिंचाई की जाती है और अनेक फसलें पैदा की जाती हैं। परन्तु ४०० फुट की ऊँचाई से गिरकर वह नदी लगभग ४५ मील तक के सँकरे दर्रे में किसी काम की नहीं रह गई है।

विक्टोरिया प्रपात की विशालता और महत्ता का पता तब चलता है, जब बरसात में जेम्बेजी नदी में जोरों की बाढ़ रहती है। लेकिन उस समय प्रपात में उछलते हुए जल-कण, देखनेवालों के लिए सुन्दर नहीं, बल्कि कष्टकर सिद्ध होते हैं। वे इतनी तीव्रता से उछलते हैं कि देखनेवालों को यत्नपूर्वक उन जल-कणों से अपनी रक्षा करनी पड़ती है। इसी तरह बाढ़ के समय धारा को रोकनेवाली चट्टानें भी नहीं दीखतीं। वे पानी में डूबी रहती हैं। इससे प्रपात की अनेक विशेषताएँ दर्शक नहीं देख पाता। प्रपात के आस-पास सघन वृक्ष खड़े हैं। इन वृक्षों की हरियाली बहुत ही नेत्ररञ्जक है।

इग्वाजु प्रपात

दक्षिण अमरीका के मध्य में जहाँ ब्राजील और अर्जेन्टाइना की सीमाएँ मिलती हैं, वहाँ ब्राजीलियन उच्च सम-भूमि से इग्वाजु नदी ढालू पहाड़ी चट्टानों पर, नियागरा प्रपात की लगभग आधी ऊँचाई से उछलती हुई एक पहाड़ी दर्रे में

गिर पड़ता है। ढालू चट्टानों से गिरने के कारण इसी स्थान पर लगभग आध मील चौड़ा प्रपात बन गया है, जिसे इग्वाजु प्रपात कहते हैं।

जिस प्रकार गोट द्वीप नियागरा प्रपात को दो मुख्य धाराओं में बाँट देता है, उसी प्रकार सैन मार्टिन नामक एक द्वीप ने इग्वाजु प्रपात को भी दो धाराओं में बाँट दिया है। इस द्वीप पर बहुत ही घना जंगल है। इस कारण प्रपात की दोनों धाराएँ एक ही नजर में नहीं देखी जा सकतीं। सिर्फ हवाई जहाज में बैठकर इस द्वीप के ऊपर आकाश में उड़ते हुए ही इग्वाजु प्रपात की दोनों धाराओं को एक ही नजर में देखना सम्भव है।

इस प्रपात में, जिस खाड़ी में यह गिरता है, उछलते हुए जल-कणों के मनोरम इन्द्रधनुष हर समय देखे जा सकते हैं।

गरसप्पा प्रपात

८३० फुट की ऊँचाई से गिरनेवाला यह प्रपात दुनिया के प्रसिद्ध जल-प्रपातों में से एक है। दक्षिण भारत में २०० फुट चौड़ी शारावती (शरवती) नदी ने इस प्रपात को जन्म दिया है। लेकिन यह एक ही प्रपात नहीं है। इसमें चार अलग-अलग प्रपात हैं। जिस चट्टानी खाड़ी में ये प्रपात गिरते हैं, वहाँ दोपहर के बाद उछलते हुए जल-कणों में तरह-तरह के इन्द्रधनुष दिखलाई पड़ते हैं। अँधेरी रात में इस खाड़ी का दृश्य टार्च आदि के तीव्र प्रकाश में बहुत ही सुन्दर दीख पड़ता है। चाँदनी रात में इस खाड़ी का उफनाता-सा फेनिल पानी और उड़ते हुए जलकणों का कुहरा बहुत ही भला प्रतीत होता है।

संसार के प्रसिद्ध जल-प्रपातों में गरसप्पा प्रपात की गिनती की जाती है। लेकिन भारतवर्ष के अनेक लोग इसका नाम तक नहीं जानते, देखने की तो बात ही दूर है।

ला ग्वायरा प्रपात

दक्षिण अमरीका में अर्जेण्टाइना की सीमा के पास ब्राजील में पराना नदी की एक शाखा द्वारा इस प्रपात का जन्म हुआ है। इग्वाजु प्रपात से १२५ मील की दूरी पर यह नदी एक उच्च सम-

ला ग्वायरा प्रपात
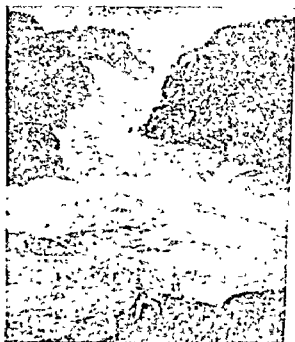
भूमि से असाधारण ढालू चट्टानों पर तीव्रता से बहती हुई अग-णित प्रपातों को जन्म देती है। यह कहना चाहिए कि ला ग्वायरा एक प्रपात नहीं है, बल्कि अनेक प्रपातों का समूह है। यह प्रपात

इतनी तीव्रता से गिरता है कि इसकी धारा छिन्न-भिन्न होकर अनेक प्रपातों का रूप ले लेती है। अनेक धाराओं के कारण इसमें इतना अधिक कुहरा उत्पन्न हो जाता है कि प्रपात को देख सकने में भी कभी-कभी बहुत कठिनाई होती है। हाँ, कुहरा उड़ जाने पर घने जंगलों के बीच इस प्रपात की सुन्दरता मन को मोह लेती है।

काइटूर प्रपात

दक्षिण अमरीका में ७४१ फुट की ऊँचाई से गिरनेवाला यह प्रपात पोतरो नदी द्वारा बनाया गया है। पोतरो नदी की चौड़ाई ४०० फुट है। पहले यह नदी कड़े पत्थरों के पठार पर बहती है; परंतु आगे चलकर जब कुछ कम कड़ी चट्टानों पर से यह बहने लगती है और ढालू मार्ग पा जाती है, तब उन्हें काटकर एक गहरी तलहटी बना देती है। इसी सिलसिले में इस प्रपात का जन्म हुआ है। इसके आस-पास का दृश्य बहुत सुन्दर है; परन्तु इसके निकट पहुँच सकना आसान नहीं।

त्रिस्ता प्रपात

दक्षिण अफ्रीका में आरेंज नदी पर यह प्रपात है। ४०० फुट गहरी कगार की तलहटी में गिरकर इस नदी ने त्रिस्ता प्रपात बनाया है। यह प्रपात तीन तरफ से सीधी खड़ी चट्टानों से घिरा हुआ है। देखने में यह बहुत ही सुन्दर है।

इन मुख्य-मुख्य प्रपातों के सिवा कुछ और भी जल-प्रपात हैं, जो काफी सुन्दर कहे जा सकते हैं। कनाडा में हेमिल्टन नदी का 'ग्रांड प्रपात' और कोलम्बिया में 'जुड़वाँ प्रपात' भी अपनी सुन्दरता के लिए काफी प्रसिद्ध हैं। हमारे देश में नर्मदा नदी पर मध्यप्रदेश में जबलपुर से चौदह मील की दूरी पर भेड़ाघाट में

'धुआँधार' नामक एक जलप्रपात है, जो बहुत बड़ा तो नहीं है; परन्तु दर्शक को अपनी सुन्दरता से मोह लेता है। इनके सिवा और भी बहुत-से प्रपात होंगे, जिनका हमें कोई पता नहीं।

बीसवीं सदी विज्ञान का युग है। इस युग में प्रकृति के उपादानों की महत्ता अब उनकी सुन्दरता तक ही सीमित नहीं रह गई है। जल-प्रपातों से भी बिजली उत्पन्न कर आज का मानव अनेक लाभ उठा रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जल-प्रपात न केवल नेत्ररञ्जक वस्तु है, बल्कि वह हमारे लिए तरह-तरह के लाभ पहुँचाने का एक अच्छा साधन भी है।

बर्फ के तैरते हुए पहाड़

उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव दुनिया के सबसे अधिक ठण्डे देश हैं। रूस का सिर्फ चालीस प्रतिशत हिस्सा साल भर बर्फ से ढँका रहता है; लेकिन ध्रुव-प्रदेशों का पूरा हिस्सा बर्फ की चादर ओढ़े रहता है। ध्रुवों के निकट जो समुद्र है, वह भी बहुत ठण्डा रहता है। बर्फ के पहाड़ बहुधा ध्रुव प्रदेशों से सरककर समुद्र की लहरों पर आ जाते और बहने लगते हैं।

उत्तरी ध्रुव के निकट समुद्र में एकआध स्थान ऐसा भी है, जो रात-दिन उमड़ती-घुमड़ती आँधियों और घने कुहरे से जकड़ा रहता है। उत्तरी ध्रुव से बहकर आनेवाली अत्यन्त ठण्ढी हवाओं को गल्फस्ट्रीम (समुद्र की गर्म जलधारा) का डटकर सामना करना पड़ता है। इस संघर्ष के कारण समुद्र की सतह और द्वीपों के किनारे पर धुआँ ही धुआँ नजर आने लगता है। ऐसा मालूम होता है, मानो यहाँ का समुद्री किनारा और समुद्र की सतह कुहरे की घनी चादर ओढ़े शान्त खड़ी हो।

इस कुहरे और बर्फ के पहाड़ों के कारण इस समुद्र में यात्रा करना खतरे से खाली नहीं रहता। लेकिन व्यापार करने के सिलसिले में लोगों को इस भयङ्कर समुद्री मार्ग से आना-जाना ही पड़ता है। समुद्री यात्रा करनेवालों को किनारों पर यहाँ अच्छी मछलियाँ भी बहुत मिलती हैं।

कुछ साल पहले तक इस समुद्री मार्ग से आने-जानेवाले यात्री और व्यापारी जहाजों के कप्तान आदि अफसर इसलिए डरते रहते थे कि कुहरा अथवा आँधी के सघन जाल में छिपे तथा समुद्र की सतह पर तैरते हुए बर्फ के किसी बहुत बड़े पहाड़ से

उनके जहाज की टक्कर न हो जाय और जहाज छिन्न-भिन्न होकर समुद्र में सदा के लिए न समा जायं।

यह कुहरा कभी-कभी इतना घना हो जाता है कि वर्फ का पहाड़ मुश्किल से १०० गज से भी कम दूरी पर नजर आने पाता है। ऐसी हालत में वर्फ के पहाड़ से जहाज की टक्कर बचा सकना कठिन हो जाता है। सर्वनाश का यही वह स्थान है, जहाँ सबसे भयङ्कर समुद्री दुर्घटना ता० १४, १५ अप्रैल, सन् १६१२ की रात में हुई थी। टिटेनिक नाम का बड़ा भारी जहाज वर्फ के एक विशाल पहाड़ से इसी स्थान पर टकरा गया था और १५०० नर-नारी समुद्र में डूब गए थे।

इस दुर्घटना से सारी दुनिया को गहरा धक्का लगा। चारों तरफ से यह आवाज आने लगी कि सर्वनाश के इस स्थान पर समुद्र में गश्त देनेवाले ऐसे जहाज चौबीसों घण्टे रहना चाहिए, जो आने-जानेवाले जहाजों को यह बतला सकें कि समुद्री मार्ग में यहाँ पर कहाँ, क्या खतरा है, और गश्त लगानेवाले जहाजों को वर्फ के पहाड़ों की देख-भाल करने का ही काम सौंपा जाय, जिससे कोई समुद्री दुर्घटना न होने पावे।

संयुक्त राज्य अमरीका ने इस रक्षा-कार्य को अपने हाथों में लिया और चौकसी करनेवाले जहाजों को यह काम सौंप दिया। दूसरे देशों ने भी इस काम में हाथ बँटाया। इस प्रकार एक अन्तर-राष्ट्रीय समुद्री गश्त-संघ कायम हुआ।

समुद्री जहाजों को वर्फ के पहाड़ सदा एक खतरा बने रहते हैं। समुद्र की लहरों पर वे इधर-उधर बहते रहते हैं। इनके आने की कोई खबर नहीं होने पाती। कभी समुद्र के ज्वार-भाटे के साथ ये आ जाते हैं, तो कभी तेज आँधी के साथ। और, कुहरा तो इनका पक्का साथी है। इसी कुहरे के कारण इनके अचानक
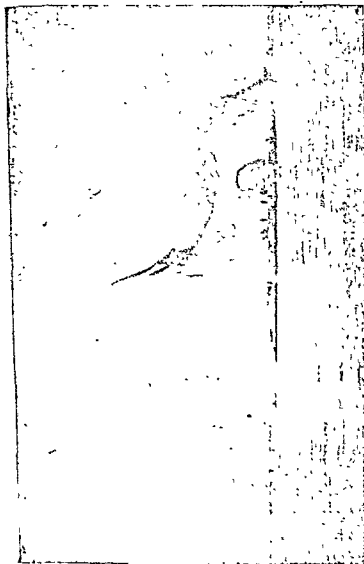
वर्फ का तैरता हुआ एक पहाड़

आ जाने का पता नहीं चलता। तारों-भरी साफ रातों में भी आध मील से अधिक दूरी पर तैरनेवाले बर्फ के इन पहाड़ों को देख लेना असम्भव है।

हर साल यह बर्फ ग्रीनलैंड के किनारों से समुद्र में आ जाती है। सदियों से बर्फ के आने का यही सिलसिला है। लेकिन समुद्री जहाजों के मार्ग में आनेवाले बर्फ के इन पहाड़ों पर अब अन्तर-राष्ट्रीय समुद्री गश्त-संघ की बराबर नजर रहती है। इस संघ की स्थापना से लेकर चौदह वर्ष तक का इतिहास इस बात की गवाही दे रहा है कि किसी जहाज की टक्कर बर्फ के पहाड़ों से इस समुद्री भाग में नहीं हुई।

उत्तरी ध्रुव के निकटवर्ती समुद्र में, ग्रीनलैंड के बर्फीले पहाड़ ही इन बर्फ के पहाड़ों का जन्मस्थान कहे जा सकते हैं। ग्रीनलैंड से लगभग १८०० मील की दूरी तक ये पहाड़ समुद्री जहाजों के मार्ग में आकर अड़ जाते और खतरे का कारण बन जाते हैं।

समुद्री किनारे के थोड़े से भू-भाग को छोड़कर करीब-करीब सारा ग्रीनलैंड बर्फ की विशाल चादर से ढका हुआ है। इस बर्फ की चादर की मोटाई का अन्दाज ५,००० फुट किया जाता है। इस बर्फ की चादर के बड़े-बड़े टुकड़े ढालू जमीन पर लुढ़कते हुए समुद्र की तरफ बहने लगते हैं। यही बर्फ ग्लेशियर (बर्फ की नदी) बन जाती है। ये ग्लेशियर समुद्र में जाकर मिल जाते हैं और तब तक समुद्र में डूबे रहते हैं, जब तक उनमें इतना हलकापन नहीं आ जाता कि समुद्र की सतह पर तैरने लगे। जब ये लम्बे-चौड़े टुकड़े लहरों पर तैरने लगते हैं, तब ग्लेशियर इन टुकड़ों के कमजोर हिस्सों पर चोट करते और उन्हें तोड़ देते हैं। ग्लेशियर और बर्फ के टुकड़ों की टक्कर होने से बड़ा शोर होता है और लहरों के शोर से मिलकर यह और भी

भयङ्कर हो उठता है। ग्लेशियर समुद्र में मिल जाना चाहता है और वर्फ के तैरते हुए पहाड़ उसका मार्ग रोकते हैं। इसीलिए दोनों मे मुठभेड़ हो जाती है।

ग्रीनलैंड में आठ ग्लेशियर ऐसे हैं, जो वर्फ के पहाड़ों को जन्म देते हैं। इनमें से कुछ छोटे भी होते हैं और थोड़े ही समय में गलकर समुद्र के पानी में मिल जाते हैं। बहुत से न्यूफाउंडलैंड के समुद्री किनारे पर पहुँचकर जम जाते हैं—विशेषकर ऐसे समय, जब समुद्र-तट पर कम वर्फ रहती है। वर्फ के इन पहाड़ों में से कुछ ग्रीन- लैंड के दक्षिणी छोर पर गल्फस्ट्रीम के भँवर-जाल में फँस जाते और गल-गलकर बह जाते हैं। जो बहुत शक्तिशाली होते हैं, वही समुद्र के थपेड़े खाकर बच पाते हैं और लेब्रेडर धारा के साथ पूर्वीय किनारे के पास से वहते हुए गल्फस्ट्रीम में जा मिलते हैं। यह गर्म जल-धारा इनका रूप छोटा कर देती है। लेकिन पहाड़ों का रूप जब तक किसी साधारण-सी मेज के आकार-प्रकार का नहीं हो जाता, तब तक किसी भी जहाज के पटियों में छेद कर देना इनके लिए बहुत ही आसान होता है।

लेब्रेडर धारा साल के ३६५ दिन लगातार उत्तर ध्रुव से न्यूफाउंडलैण्ड के समुद्री किनारों तक नहीं बहती। नदी की तरह इस धारा में बसन्त ऋतु में बाढ़ आती है। फरवरी में इस धारा का बहाव शुरू होता है और अप्रैल के अन्त तक इसमें इतनी तेजी आ जाती है कि वर्फ के पहाड़ों को वह अपने भँवर-जाल में दो मील प्रति घण्टे की रफ्तार से बहा ले जाती है। इसके बाद गल्फस्ट्रीम उत्तर की तरफ फैलता हुआ पहुँच जाता और इस धारा को दबा देता है।

वर्फ के पहाड़ों का खतरा हर साल मार्च से लेकर जून तक बहुत रहता है। इसी बीच में लेब्रेडर धारा में बहुत तेजी रहती है। जिन स्थानों पर वर्फ के पहाड़ों का अधिक भय रहता

है, उन स्थानों में बर्फ की देखरेख करने के लिए गश्ती दल पहुँचने लगते हैं। मार्च से जुलाई तक ये गश्ती जहाज समुद्र में ही रहे आते हैं। इन पर काम करनेवाले कुछ कर्मचारी तो इस दरम्यान समुद्र-तट अथवा भूमि के दर्शन भी नहीं कर पाते। उनका सारा समय इन गश्ती जहाजों पर ही बीतता है।

इन कार्यकर्त्ताओं में एक 'ओशियेनोग्राफर' होता है। इसे अपने जहाज की स्थिति का दिन अथवा रात में हर वक्त खयाल रखना पड़ता है। आस-पास के ४०० मील के क्षेत्रफल में आने-वाले जहाजों की गति-विधि पर उसे नजर रखनी पड़ती है और उन्हें इस बात की सूचना देनी पड़ती है कि समुद्र में कहाँ, किस स्थान पर, बर्फ के पहाड़ से उन्हें बचना होगा। समुद्री तूफान आदि का भी इसे खयाल रखना पड़ता है और आनेवाले जहाजों को यह सब रेडियो द्वारा सूचित करना पड़ता है।

गश्ती जहाजों का एक और काम होता है। बर्फ के बड़े-बड़े पहाड़ों को वैज्ञानिक रीति से टुकड़े-टुकड़े कर गला दिया जाता है। समुद्र पर रहनेवाले नाविकों ने विज्ञान के सहारे ऐसी विधियाँ बहुत पहले ही खोज निकाली हैं।

ये गश्ती जहाज बिजली की शक्ति से चलाए जाते हैं। जहाज के इंजन के पास ही 'डेक' (जहाज की छत) होता है, जिसमें लगभग ८४ जहाजी कर्मचारियों का भोजन-गृह और वाचनालय होता है। समुद्री हवा का रुख जब शान्त होता है, तब जहाज के इन कर्मचारियों के मनोरञ्जन के लिए चलचित्र भी दिखलाए जाते हैं। इसी डेक पर जहाज के दस अफसरों के रहने के कमरे बने रहते हैं। डेक से लगा हुआ एक मुख्य डेक होता है। इस पर जहाज के कप्तान का कमरा होता है और इसके ऊपर नाविक का रेडियो का कमरा रहता है। इसी नाविक को ओशियेनोग्राफर कहते हैं।

ओशियेनोग्राफर का दिन उषा-दर्शन के पहले से ही शुरू हो जाता है। उसका सबसे पहला काम होता है आकाश के तारों को देखकर अपने जहाज की स्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान रखना। लेकिन यह काम कुहरे की कृपा से ही हो सकता है। कभी-कभी तो कुहरा इतना घना रहता है कि आकाश की झलक भी नहीं देखी जा सकती।

छह वजे प्रातःकाल से अनेक जहाजों द्वारा पूछे जानेवाले भिन्न-भिन्न प्रश्नों का उत्तर देने का सिलसिला चालू हो जाता है। कोई जहाज पूछता है कि गश्ती जहाज किस अक्षांश-देशांश पर है, तो कोई पूछता है कि वर्फ के पहाड़ का सबसे अधिक खतरा कहाँ पर है। कुहरा, आँधी, तूफान आदि के सम्बन्ध में भी प्रश्न पूछे जाते हैं और रेडियो से इनका उत्तर दिया जाता है।

आने-जानेवाले सभी जहाज इस गश्ती जहाज के आदेशों का पालन करते हैं। न करने पर किसी भी स्थान पर वर्फ के भयङ्कर और सर्वनाश कर देनेवाले पहाड़ों से उनकी टक्कर हो जाने का डर रहता है।

गश्ती जहाज के नाविक वर्फ के पहाड़ों को देखते ही उनके फोटो ले लिया करते हैं। फोटो देखकर आसानी से पता चल जाता है कि वर्फ के पहाड़ का कितना भाग समुद्र की सतह से ऊपर है और कितना नीचे। आम तौर पर पानी के ऊपर रहनेवाला अंश पूरे पहाड़ का आठवाँ हिस्सा होता है। इसी तरह जिस स्थान पर ये पहाड़ तैरते हैं, उस स्थान के पानी का तापक्रम आदि जानकर यह पता भी लगा लिया जाता है कि पहाड़ किस दिशा की तरफ बहता हुआ बढ़ रहा है। पहाड़ किस गति से बहता है, यह भी इन नाविकों को मालूम रहता है। इन्हीं सब बातों की सूचना रेडियो द्वारा उन जहाजों को दे दी जाती है, जो इस समुद्री मार्ग से होकर गुजरना चाहते हैं।

भोजन-सामग्री को संरक्षित रखनेवाले ताप-प्रशामक यन्त्र के लिए गश्ती जहाज पर कभी-कभी वर्फ की जरूरत पड़ती है। ऐसी जरूरत पड़ने पर गश्ती जहाज से एक छोटी नाव समुद्र-तल पर उतार दी जाती है और वर्फ के पहाड़ के पास जाकर उसकी वर्फ ले आते हैं। यह वर्फ असली और ताजा होती है।

इन पहाड़ों के निकट पहुँचने पर बड़ा शोर सुनाई पड़ता है। कान फटने-से लगते हैं। वर्फ के छोटे-छोटे टुकड़े इस पहाड़ से टूट-टूटकर समुद्र में गिरते हैं। इसी का यह शोर होता है।

वर्फ के पहाड़ मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं। एक तो सङ्गमर्मर की तरह दूध-जैसे सफेद होते हैं, और दूसरे किले की बुर्जों की तरह ऊँचे-ऊँचे दो हिस्सेवाले। इन दो हिस्सों के बीच एक रास्ता-सा रहता है। सङ्गमर्मर की शक्लवाले वर्फ के पहाड़ों का हिस्सा, दूसरी किस्म के पहाड़ों की अपेक्षा बहुत कम पानी में धँसा रहता है।

वर्फ के ये पहाड़ सदा अस्थिर रहते हैं। इधर-उधर हिलना-डुलना इनकी पहली विशेषता है। आमतौर पर लोगों का विश्वास है कि ये पहाड़ उलट-पुलट भी जाते हैं—नीचे का हिस्सा ऊपर और ऊपर का नीचे हो जाता है। लेकिन ऐसा नहीं होता है। कभी ऐसा होता भी है तो बहुत कम।

इन बड़े-बड़े पहाड़ों को विस्फोट द्वारा भी टुकड़े-टुकड़े किए जाने के उपाय काम में लाए जाने लगे हैं। इन पहाड़ों का विस्फोट बहुत भयङ्कर होता है। वर्फ के छोटे-बड़े टुकड़े दूर-दूर तक छिन्न-भिन्न होकर उचटते और समुद्र पर गश्त देनेवाले जहाजों के कर्मचारियों के लिए खतरनाक साबित हो सकते हैं। लेकिन गश्ती जहाजों पर काम करनेवाले लोग भी बड़े चतुर हो जाते हैं और समय पर अपनी रक्षा कर लेते है।

———

समुद्र की रहस्यमयी तली

सन् १८६९-७० ई० में यह बात मानी जाने लगी थी कि समुद्र की सदा हलचल मचानेवाली और लहराती लहरों के नीचे एक रहस्यमयी समुद्री दुनिया है। हिन्दुस्तानी गदर के समय अर्थात् सन् १८५७ ई० मे पहले-पहल अटलाण्टिक केबिल (समुद्री तार) वेलेंशिया द्वीप और न्यूफाउण्डलैंड के बीच स्थापित किया गया था। इसके बाद नये-नये स्थानों पर समुद्री तार स्थापित करने के नये-नये तरीके काम में लाए जा रहे थे। समुद्री तार स्थापित करने के लिए समुद्र के नीचे की दुनिया की भी थोड़ी-बहुत जानकारी जरूरी थी। छोटे-छोटे जंगी जहाजों ने सन् १८६६-७० ई० तक यह जानकारी हासिल कर ली थी कि समुद्र के भीतर भी एक बड़ी विचित्र दुनिया है—ऐसी दुनिया, जो पृथ्वी पर रहनेवालों के लिए एकदम नई मालूम होगी।

विज्ञान-सम्बन्धी यह नई बात जानकर संयुक्त राज्य अमरीका ने इसकी छानबीन करने के लिए अपना कदम बढाया। समुद्र के भीतर की दुनिया की छानबीन की जाने लगी। फ्रेंच और जर्मन लोग भी इस छानबीन में जुट गये। ब्रिटिश सरकार ने भी २३०० टन का एक 'चैलेंजर' नामक लड़ाकू जहाज भेजकर समुद्र की गहराई आदि का पता लगाने का निश्चय किया। इस जहाज पर नाविक कर्मचारी और अफसर तो थे ही, साथ ही प्रकृति-विज्ञान के कुछ जानकार भी थे। तीन वर्ष का कार्यक्रम बनाकर यह जहाज अपने काम पर चल पड़ा।

समुद्र-तल की खोज इस प्रकार शुरू हुई। इस जहाज के कप्तान थे कैप्टेन (सर) जार्ज नेयर्स। प्रकृति-विज्ञान के जानकारों

में प्रमुख थे एडिनबर्ग विश्वविद्यालय के वीले थामसन। इनके पाँच सहायक थे। इनमें अन्तिम सहायक जान मुरे था।

सर जान मुरे कोबर्ग (ओण्टारियो) में पैदा हुआ था। प्रकृति-विज्ञान के कई अङ्गों का वह अच्छा जानकार था। सत्रह साल की उम्र में मुरे को स्काटलैण्ड भेजा गया। वहाँ उसके कुछ रिश्तेदार थे। एडिनबर्ग विश्वविद्यालय में उसने शिक्षा पाई थी।

छोटे और नाटे कद का मजबूत मुरे बचपन से ही तोता-रटन्त अथवा लगातार पढ़ते रहने से नफरत करता था। परीक्षाओं की उसने कभी परवा नहीं की। इसी लिए परीक्षाओं में वह बैठा भी नहीं। हाँ, जो विषय उसे प्रिय थे, उन्हें पढ़ने-सीखने में वह बड़ी मेहनत करता था। उसके अपने विचार थे और मौलिक ढङ्ग से वह अपनी बात प्रकट करता था। पन्द्रह वर्ष तक अर्थात् बत्तीस साल की उम्र तक वह विश्वविद्यालय में पढ़ता रहा; लेकिन उसे कोई डिग्री नहीं मिली।

समुद्र की गहराई का पता लगाने के सिवा उसका जहाज निर्जन टापुओं पर भी जाता था। ऐसे टापुओं पर जाकर ये लोग वहाँ के पौधों और पक्षियों को इकट्ठा करते और वायुमण्डल-सम्बन्धी हलचलों का बारीकी से पता लगाते।

समुद्र की तली में क्या है, इसका पता लगाना आसान नहीं है। तली में विचरनेवाले जीव-जन्तु अथवा किसी दूसरी वस्तु को पकड़ लेना तो सरल है; लेकिन जब तक उसे पानी की सतह से ऊपर न लाया जाए, तब तक यह निश्चय कर सकना कठिन है कि वह आखिर है क्या। और, इन चीजों को ऊपर लाना बहुत कुछ मौके की बात कही जा सकती है।

यों तो किसी रस्सी में वजनदार चीज बाँधकर उसे पानी में लटकाना और तली तक पहुँचाकर गहराई का पता लगाना बड़ा

आसान मालूम पड़ता है। परन्तु जब प्रयोग किया गया, तो पता चला कि समुद्र की लहरें ऐसी रस्सी अथवा लंगर को बहाकर इधर-उधर कर देती हैं। और मजेदार बात तो यह है कि जहाज एक ही स्थान पर स्थिर खड़ा रहता था; लेकिन गहराई का पता लगाने के लिए लटकाई जानेवाली रस्सी को लहरें इधर-उधर बहा देती थीं। इसका एक कारण है: समुद्र की सतह के नीचे कई धाराएँ ऐसी होती, हैं जो एक दूसरे से टकराती रहती हैं और विपरीत दिशा में बहती है। इसलिए यह पता नहीं चल पाता था कि रस्सी अथवा लंगर तली तक पहुँचा भी या नहीं। कभी-कभी तो कई मील लम्बे लंगर लटकाना भी व्यर्थ हो जाता था, कारण भीतर बहनेवाली धाराओं की चपेट में वह आ जाता था।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए संयुक्त राज्य अमरीका की नौसेना में मिडशिपमैन ब्रूक ने गहराई नापने का एक नवीन लंगर ईजाद किया। इस लंगर में जो वजन लटकाया जाता था, वह तली से टकराने पर ही दम लेता था।

इँगलैण्ड के सर विलियम थामसन ने भी एक यन्त्र ऐसा बनाया था, जिसमें खास प्रकार का 'ब्रेक' लगा रहता था। ज्योंही लंगर तली पर जाकर टकराता था, यह ब्रेक ऐसा कुछ काम करता कि वह लंगर एकदम ढीला पड़ जाता था। इस लंगर के साथ रबर की एक नली रहती थी, जिसमें तली का कीचड़ आदि एकत्र हो जाता था और समुद्र-सतह के ऊपर लंगर खींचने पर जिसे देख-भाल सकते थे।

इसी तरह के अनेक आविष्कार किए गए हैं, जिनसे समुद्र की गहराई का पता लगाया जाता है। सभी आविष्कारों का सिद्धान्त ऊपर बतलाए तरीके से मिलता-जुलता है।

गहराई के अतिरिक्त यह जानना भी जरूरी था कि समुद्र की तली में रहनेवाले जीव-जन्तुओं की दुनिया कैसी है, और वे किस

प्रकार रहते हैं। ऐसी दुनिया की तनिक कल्पना तो कीजिए, जो एकदम पानी से ओतप्रोत है, जिसका अधिकांश भाग तीन से लेकर चार मील तक गहरा है, जिसमें जल-जन्तुओं और जानवरों का ख़ासा जमघट रहता है। ये जन्तु-जानवर बहुधा जलसतह के निकट ही रहते हैं; लेकिन कुछ ऐसे भी होते हैं, जो ठीक तली में रहते हैं और कुछ तली से तनिक ऊपर।

क्या ये सभी जन्तु और जानवर एक-सी हालत में रहते हैं? क्या तली में नीचे किसी प्रकार का प्रकाश भी है? यदि प्रकाश नहीं है, तो ये जल-जन्तु और जानवर कैसे अपनी राह देखते हैं और इधर-उधर विचरते हैं? इसी तरह के अनेक प्रश्न थे, जिनका कोई हल उस समय तक नहीं निकला था, जब ऊपर लिखा 'चैलेंजर' जहाज रवाना हुआ था।

इस दशा में यह जरूरी था कि समुद्र के पानी की भिन्न-भिन्न गहराई और तली में पाई जानेवाली वस्तुओं को ऊपर लाकर बारीकी से देखा-भाला जावे और यह पता लगाया जावे कि उनमें किस प्रकार की खराबियाँ हैं और आक्सिजन (प्राणप्रद वायु) किस परिमाण में है। एक विशेष बनावट की बोतल द्वारा यह काम किया गया। इस बोतल का मुँह खुला रहता था और पानी में इसे लटका दिया जाता था। इसमें यह विशेषता थी कि यह नीचे की तरफ मुँह किए पानी में घुसती जाती थी और ज्योंही ऊपर से इसे झटका दिया नहीं कि यह बोतल जिस गहराई पर झटका खाती, उसका पानी इसमें भर जाता था। बोतल को ऊपर खींचकर उस पानी की जाँच-पड़ताल की जाती और पता लगाया जाता कि जिस गहराई पर इसमें पानी भर गया है, वहाँ क्या खराबियाँ या अच्छाइयाँ हैं।

समुद्र की तली में रहनेवाले जीव-जन्तुओं का पता सबसे अन्त में लग सका। इन जीव-जन्तुओं को पकड़ने के लिए मछली

पकड़नेवाले विशेष प्रकार के जाल और तलहटी के पौधों आदि को फँसाने के लिए कीचड़ निकालने के विशेष यन्त्र काम में लाए जाते थे। गहराई का पता लगाने के लिए, नावों को घसीटनेवाली विशेष जाली पानी में, रात के सन्नाटे में डुबोई जाती थी। जब इस जाली को ऊपर खींचा जाता, तब इसमें तरह-तरह के जल-जीवाणु पाए जाते, जो एक प्रकार के लसलसे कीचड़ में सने रहते थे। इसी में तरह-तरह की सुन्दर मछलियाँ भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में पाई गई थीं। तरह-तरह के पौधे भी इसी जाली में फँसे चले आते थे। इन सब चीजों की देख-भाल जहाज पर की जाती थी।

जिस 'चैलेंजर' जहाज की चर्चा ऊपर की जा चुकी है, वह लिस्बन होते हुए मैडीरा गया। इसके बाद उस टेनिरिफ नामक विशाल ज्वालामुखी पर्वत के निकट पहुँचा, जिसका एक तिहाई भाग समुद्र में डूब चुका है और १२,००० फुट ऊँचा भाग जल के ऊपर निकला हुआ है। यहीं इस जहाज के लोगों ने समुद्र की तली के सम्बन्ध में अपने यथार्थ आविष्कार का श्रीगणेश किया। प्रतिदिन कम-से-कम एक बार ये लोग जहाज पर से समुद्र की तली में लंगर लटकाते और गहराई तथा अन्य बातों का पता लगाने की कोशिश करते।

लंगर डालने का काम प्रायः सुबह के वक्त किया जाता। वजनदार लंगर, थर्मामीटर, बोतल (वाटर बॉटल) आदि के साथ साढ़े पाँच और छह बजे सुबह के बीच ही लटका दिया जाता था। यदि गहराई दो या ढाई मील की होती, तो इस काम में लगभग एक घण्टे का समय लगता था।

साढ़े तीन वर्ष तक इन लोगों का यह प्रयत्न धैर्य के साथ चलता रहा। लेकिन ऊपर जिस कीचड़ निकालने के यन्त्र अथवा मछली पकड़ने के विशेष जाल का जिक्र किया गया है, उससे

समुद्र की तली की दुनिया का विशेष ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं था। इस जाल में साधारण-सी मछलियाँ आदि ही फँस सकती थीं। हाँ, कभी-कभी सुन्दर 'काड' मछलियाँ भी ये लोग पा जाते थे।

इस सिलसिले में कभी-कभी बड़ी मजेदार बातों का पता चल जाता था। समुद्र की तली में जो जन्तु अथवा जानवर रहते हैं, उन पर पानी का दबाव रहता है। इस पानी के उस अंश का वजन लगभग ६४ पौण्ड होता है, जिसका क्षेत्रफल एक वर्गफुट होता है और गहराई एक फुट रहती है। यह सघन दबाव इन जलजीवों के शरीरों में वाष्पों (गैसों) को दबाए रहता है।

एक बार त्रिभुज के आकार की एक ऐसी मछली इन लोगों ने समुद्र की तली में पकड़ी, जिसकी पूँछ चूहे की तरह कुछ इंच लम्बी थी। मछली जब जहाज पर खींचकर लाई गई, तब उसकी हालत बहुत दयनीय थी। तली में इस मछली के शरीर में पानी के दबाव से जो वाष्प दबी रहती थी, वह ऊपर (जहाज पर) आते ही फैलने लगी। नतीजा यह हुआ कि इस मछली की आँखें उसके सिर से लगभग बाहर निकल पड़ीं। उसके शरीर के भीतरी तन्तु भी मुँह की राह बाहर निकल पड़े। नली से खींचकर ऊपर लाये जानेवाले जल-जन्तुओं में प्रायः सभी का यही हाल होता था। बहुत कम इस लायक रहते कि उन्हें किसी अजायबघर में सुरक्षित रक्खा जा सके।

जल-जन्तुओं के सिवा स्पंज, समुद्री ककड़ी, समुद्री मूँगा, झींगा मछलियाँ और कुछ छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े, जो दो या तीन मील की गहरी समुद्र-तली में पड़े रहते थे, बहुत अच्छी हालत में पाए गए थे। यों ये छोटे-छोटे प्राणी तली से ऊपर आने पर, पानी का दबाव कम होते ही, कुछ घण्टों से अधिक जिन्दा नहीं रखे जा सकते थे।

टेनिरिफ ज्वालामुखी से इन अन्वेषकों का 'चैलेंजर' जहाज अटलांटिक महासागर को पारकर वेस्ट इण्डीज की तरफ बढ़ा।

समुद्र की लहरों पर एक जहाज

इस यात्रा में लगातार कई दिनों तक समुद्र में कहीं किसी पक्षी के भी दर्शन नहीं हुए। दूसरे कोई जहाज भी आते-जाते नहीं मिले। इसी मार्ग में 'सारगासो' नामक समुद्र पार करना पड़ा। यह सागर दो से लेकर तीन मील तक गहरा है। समुद्र की लहरें यहाँ भँवर का रूप धरकर उमड़ती-घुमड़ती हैं। इस सागर में सेवार घास (रद्दी पौधे) बहुत पाई जाती है। मेक्सिको की खाड़ी में यह घास बहुत होती है। इस घास का जन्म-स्थान मेक्सिको की खाड़ी ही है, लेकिन सारगासो सागर में भी इसकी कमी नहीं। पानी की सतह के ऊपर यह बहुत जम जाती है। इसका रङ्ग खाकी होता है।

मुरे एक छोटी नाव में इस घास की परीक्षा करने के लिए भेजा गया। इसी सिलसिले में मुरे को ऐसे छोटे केंकड़े मिले, जो सेवार की तरह खाकी रङ्ग के थे। सेवार और इन केंकड़ों का

भेद पहचान सकना तभी सम्भव होता, जब केंकड़े चलने या सरकने लगते। यहीं उसे कुछ ऐसी मछलियाँ मिलीं, जो पक्षियों की तरह घोंसले बनाकर रहती हैं। इनके घोंसले, जिनमें उनके अण्डे भी थे, ठीक क्रिकेट की गेंद-जैसे थे और मकड़ी की तरह इन मछलियों द्वारा बनाए गए जालों से तैयार किए गए थे।

समुद्र के इसी भाग में 'चैलेंजर' जहाज के इन अन्वेषकों को इस बात के बड़े-बड़े सबूत मिले कि समुद्र की तली में पानी का बहुत दबाव पडता है। इस भाग में २३ मील से कम गहराई में भी मछली पकड़ने के जो जाल लटकाए जाते थे, उनकी नोकें दोहरी होकर झुकी हुई ऊपर आती थीं। इस जाल के साथ जो बाँस डाले जाते थे, वे लगभग आध इंच तक पिचक जाते थे और कभी-कभी इन बाँसों की गाँठें इस दबाव के कारण उसके साधारण धरातल से बहुत उभर जाती थीं।

इन प्रकृति-वेत्ताओं ने उष्ण कटिबन्धीय समुद्र की सुन्दर झाँकी पहले-पहल वेस्ट इण्डियन मूंगे के पर्वतों के निकट देखी। पानी का चश्मा लगाकर कोई भी व्यक्ति सरलता से काफी गहरी समुद्र की तली को साफ-साफ देख सकता है। यह चश्मा एक प्रकार का ट्यूब (रबर आदि की पोली नली) होता है। यह ट्यूब पानी की सतह को हटा देती और उसकी गति को रोक देती है।

पानी के चश्मे को लगाकर काफी गहराई में पड़ी तरह-तरह की वस्तुएँ इन लोगों ने देखी-भाली थीं—तरह-तरह के गुमड़ेदार मूँगे, जिनके साथ हरे, खाकी और लाल नाना प्रकार के जलजन्तु थे। ये जल-जन्तु ज्वारभाटे के साथ इधर-उधर तैरते रहते और इनके साथ ये मूँगे भी रत्नजटित पंखे की तरह दिखलाई पड़ते। कई प्रकार की ऐसी मछलियां भी देखी गई, जो इन मूँगों को खाती हैं। रङ्ग-बिरङ्गी सेवार-घास भी कई तरह की पाई गई। समुद्री

जानवरों के झुण्ड और समुद्र की तली में पाए जानेवाले फूल भी इसी सिलसिले में देखे गए।

पानी का रङ्ग आमतौर पर हरा था। सिर्फ उन स्थानों पर, जहाँ मूँगे के पर्वत जल-सतह से ऊपर उठे हुए थे, इसका रङ्ग बैंजनी था।

कभी-कभी उड़नेवाली मछलियाँ छप-छप करती हुई यात्रियों को चौंका देती हैं। ये मछलियाँ किसी जल-जन्तु के पीछा करने पर अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए जल-सतह से ऊपर उड़ने लगती हैं; लेकिन अधिक देर तक न उड़ सकने के कारण फिर किसी दूसरे जल-जन्तु के जबड़े में जा गिरती हैं।

वेस्ट इण्डियन मूँगे के पर्वत बर्मूदा से 'चैलेंजर' जहाज हेलीफैक्स के उत्तर में नोवा स्काटिया की तरफ गया और फिर वापस आया। इस सिलसिले में कई वार जहाज को गल्फस्ट्रीम (समुद्र की गर्म जल-धारा) को पार करना पड़ा। गल्फस्ट्रीम खारे पानी की एक नदी ही समझिए, जो समुद्र में बहती है। कभी-कभी इसका गहरा नीला रङ्ग अपने-आपको समुद्र के पानी से अलग प्रकट कर देता है। यह धारा बड़ी तेजी से बहती है। एक घण्टे में इसका बहाव चार मील तक होता है।

इस गर्म जलधारा में 'चैलेंजर' जहाज एक बार पड़ गया और इसकी तेजी के सामने उसका स्थिर रह सकना कठिन हो गया।

समुद्र के खारेपन और उसकी गर्मी में गल्फस्ट्रीम के कारण जो अचानक अन्तर आ जाता है, उससे समुद्र के पानी और गल्फस्ट्रीम की मिलन-सीमा पर रहनेवाले बहुत से समुद्री जन्तु बहुधा मर जाते हैं। एक बार इसी कारण लाखों मछलियाँ मर गई थीं और सैकड़ों वर्गमील तक समुद्र की सतह पर बिखर गई थीं।

भूमध्य रेखा को पारकर जब 'चैलेंजर' दक्षिण की तरफ बढ़ा, तब उसे असाधारण जल-जन्तुओं का सामना करना पड़ा था। ये जल-जन्तु लहरों के नीचे लम्बी लहरियादार पंक्ति में फैले रहते हैं। इनके डंक भी होते हैं, जिनसे कोई भी आदमी बुरी तरह घायल हो सकता है। इन जन्तुओं की लम्बाई पचास फुट तक होती है। जितने अधिक लम्बे ये जन्तु होते हैं, उतने ही खतरनाक होते हैं। इनके अगणित डंक होते हैं, जिनसे मछलियों अथवा अन्य जन्तुओं को छेदकर ये खा जाते हैं।

इसके बाद 'चैलेंजर' दक्षिण अमरीकन समुद्र-तट की तरफ गया। इस सिलसिले में इस जहाज के प्रकृति-तत्त्ववेत्ताओं ने पहले-पहल बड़ी ह्वेल मछली देखी। ह्वेल सचमुच समुद्र की सिंहिनी होती है। ह्वेल मछलियाँ अक्सर जोड़े के साथ समुद्र में इधर-उधर विचरती हैं। कभी-कभी अकेले भी घूमती पाई जाती हैं। इनकी पूँछ बड़ी और मजबूत होती है। शार्क (ग्राह) नामक समुद्री मछलियों को ह्वेल अपनी पूँछ के सहारे ही ऊपर की तरफ उछाल देती और ज्योंही वह नीचे की तरफ गिरने लगती है, ह्वेल उसे टुकड़े-टुकड़े कर डालती और खा जाती है। लेकिन ये ग्राह मछलियाँ भी अपने दुश्मन पर हमला करना जानती हैं। दल-के-दल बनाकर ग्राह मछलियाँ भेड़ियों की तरह ह्वेल पर हमला करतीं और कभी-कभी उसे मार भी डालती हैं।

ग्राह मछली भी समुद्र में पाई जानेवाली एक बड़ी मछली है, जो समुद्रों में किनारों से बहुत दूर जाने पर मिलती है। ग्राह मछलियों को देखते ही दूसरी मछलियाँ मानो अपने प्राण लेकर इधर-उधर सटक जाती हैं।

कुछ उष्ण कटिबन्धीय समुद्रों में इस जहाज पर चलनेवाले अन्वेषकों ने ऐसे समुद्री जन्तु भी देखे, जिनमें फास्फरस की इतनी अधिकता थी कि उनकी चमक अँधेरी रात में भी इतनी तेज होती

थी कि सहज ही अखबार पढ़ा जा सकता था। अधिक गहराई में पाई जानेवाली मछलियों में भी फास्फरस बहुत रहता है। इनसे जो प्रकाश होता है, वह कई रङ्गों का होता है। इसी प्रकाश के सहारे ये मछलियाँ तथा अन्य जल-जन्तु समुद्र की तली के अन्धकार में भी अपना दोस्त-दुश्मन पहचान लेते और निर्भय विचरते रहते हैं।

'चैलेंजर' जब केपटाऊन पहुँचा, तब समुद्री पौधों, जीव-जन्तुओं आदि का जो संग्रह इन प्राकृतिक तत्त्ववेत्ताओं ने कर रक्खा था, उनकी एक सूची तैयार करने का काम मुरे को सौंपा गया। उसने सावधानी से सूची तैयार की और भिन्न-भिन्न ६४ बड़े सन्दूकों में इन वस्तुओं को बन्द किया ताकि एक दूसरे से ये मिल न जायँ। इन सन्दूकों को उसने अपने नगर भेजवा दिया।

दक्षिण अफ्रीका से आगे चलकर 'चैलेंजर फिर अपनी खोज के मार्ग पर आगे बढ़ा। अनेक बड़े-बड़े और तूफानी समुद्रों में तथा निर्जन टापुओं के किनारों पर इन लोगों ने समुद्र-तल के सम्बन्ध में खोज जारी रक्खी। यह यात्रा पहले से अधिक सन्तोषजनक रही।

कैरग्यूलेन में इन लोगों ने समुद्र के बड़े-बड़े जल-जन्तुओं का संग्रह किया। कैरग्यूलेन से आगे बढ़ने पर इन लोगों ने बड़े-बड़े बर्फ के तैरते हुए पहाड़ देखे। इनमें से बर्फ का एक पहाड़ इन लोगों ने ऐसा देखा जो २०० फुट ऊँचा और आधा मील लम्बा था। आगे बढ़ने पर एण्टार्कटिक की सीमा मे पहुँचने पर तरह-तरह की ह्वेल मछलियाँ मिलीं। इनमें से कुछ ह्वेल मछलियों की पीठ पर पंख भी थे। पंखवाली ह्वेल मछलियाँ एण्टार्कटिक सागर में हजारों की संख्या में पाई जाती हैं।

एण्टार्कटिक सीमा में खोज कर लेने के बाद 'चैलेंजर' मेल-बोर्न और सिडनी के विशेष जलवायु का पता लगाने के लिए

बढ़ा। सिडनी में इस जहाज के अन्वेषकों ने तीन महीने ठहरकर आराम किया। इस बीच एण्टार्कटिक में जिन समुद्री जन्तुओं आदि का संग्रह किया गया था, उन्हें बक्सों में बन्द करने और घर भेजने का काम मुरे के जिम्मे रहा।

सिडनी से ये अन्वेषक प्रशान्त सागर में न्यूजीलैंड, टोंगा, फिजी आदि द्वीपों पर पहुँचे। इसके बाद टारेस स्ट्रेट्स में गये, जहाँ इनका दौरा बहुत सफल रहा। वहाँ सिर्फ दो दिन में लगभग ५०० भिन्न-भिन्न समुद्री जीवों का इन्होंने संग्रह किया।

यहाँ से फिलीपाइन्स द्वीप-समूह और हाँगकाँग होते हुए 'चैलेंजर' जापान के उत्तर में न्यूगाना पहुँचा। इस समुद्री भाग मे सबसे ज्यादा गहराई का पता चला, जो पाँच मील थी। इतनी गहरी तली पर पानी का दबाव बहुत ही अधिक था। हवा के जिस दबाव में हम रहते हैं, उससे लगभग ९० गुना दबाव तली में पाया गया। अधिक गहराई में पाए जानेवाले जन्तुओं की संख्या सदा कम पाई गई; लेकिन उनके आकार-प्रकार बहुत ही विचित्र थे।

जापान से लौटते समय प्रशान्त महासागर की सीमा पार की जा रही थी कि 'चैलेंजर' जहाज के प्रकृति-वेत्ताओं में से वाइले-मोज सुहम नामक एक प्रकृति-वेत्ता की मृत्यु हो गई। जहाज पर यह बहुत ही लोकप्रिय व्यक्ति था। इसकी मृत्यु के बाद जहाज और भी अधिक गहरे समुद्र पर आगे बढ़ा और ह्वेल तथा शार्क मछलियों के कानों की हड्डियाँ, दाँत आदि चीजें एकत्र कर लाया। ये शार्क मछलियाँ सदियों पहले की थीं।

साढ़े तीन वर्ष तक लगभग ६८,८६० मील की समुद्री यात्रा के बाद ये अन्वेषक घर वापस आये। इन अन्वेषकों का असली खोज का काम अब शुरू हुआ। एडिनबर्ग में एक सरकारी दफ्तर

इस काम के लिए खोला गया। इस काम के लिए वीले थामसन प्रधान चुना गया और मुरे उसका सहायक।

समुद्र से जीव-जन्तुओं, पौधों आदि के जो संग्रह करके पहले से ही यहाँ भेज दिए गए थे, वे सब खोले गए और उनकी देख-भाल तथा खोज का काम शुरू किया गया। थोड़े ही दिनों में थामसन भी मार्च १८८२ में चल बसा। 'चैलेंजर' का विवरण पहले से ही मुरे के सम्पादन में छपने लगा था। मुरे ने तेजी और योग्यता के साथ ७६ वैज्ञानिकों की सहायता से खोज का काम जारी रक्खा। बड़ी-बड़ी ४८ जिल्दों में समुद्र-तल की खोज का विवरण छापा गया। इसके बाद खोज-सम्बन्धी सारे काम का संक्षिप्त विवरण दो जिल्दों में अलग छापा गया।

मुरे को समुद्र-तल की खोज करने के लिए एल-एल० डी० और एफ० आर० एस० की डिग्रियाँ दी गईं और बाद में उसे 'सर' का खिताब भी मिला। जिस मुरे का मन पहले कालेज की डिग्री हासिल करने में नहीं लगा, उसी ने अपनी रुचि के काम में इतना नाम कमाया।

एण्टार्कटिक की गहराई नापते समय मुरे को कुछ ऐसी चट्टानें मिली थीं, जो सिर्फ महाद्वीपों पर ही पाई जाती हैं। इनकी खोज-बीन करके मुरे ने यह सिद्ध किया कि एण्टार्कटिक कभी महाद्वीप था।

सन् १९१० में मुरे ने नार्वेजियन सरकार की सहायता से उत्तरी अटलांटिक महासागर में जल-सतह और तली के बीच में पाए जानेवाले जन्तुओं आदि की खोज की।

अब तक मुरे ७० वर्ष का वृद्ध हो चुका था। वह अन्त तक बड़ा परिश्रमी रहा। ता० १६ मार्च १९१४ को अचानक एक मोटर दुर्घटना में ७४ वर्ष की उम्र मे इसका स्वर्गवास हो गया।

टेलीफोन का चमत्कार

टेलीफोन द्वारा बातचीत करना किसी जादू से कम नहीं है। इस आविष्कार ने न केवल समय की बचत की है, बल्कि दूरी को भी बहुत कम कर दिया है। हमारी पृथ्वी की २५,००० मील लम्बी परिधि को टेलीफोन ने सिर्फ ३०० फुट कर दिया है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि फुटबाल खेलने के मैदान की लम्बाई ३०० फुट होती है। इस मैदान के एक छोर पर खड़े होकर यदि हम दूसरे छोर पर खड़े साथी से चिल्लाकर कोई बात करें, तो हमारी आवाज उसके कानों तक पहुँचने में लगभग एक-तिहाई सेकेंड का समय लेती है। यही हाल टेलीफोन का है, बल्कि टेलीफोन द्वारा जब हम किसी से बातचीत करते हैं, तब हमारी आवाज एक-तिहाई सेकंड से भी कम समय में दूसरे छोर पर पहुँच जाती है। दुनिया के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक, अर्थात् २५,००० मील लम्बी परिधि का मार्ग तय करने में भी, टेलीफोन द्वारा की जानेवाली आवाज, इतना ही कम समय लेती है।

टेलीफोन के चोंगे को हाथ में लेकर जब हम उसके ध्वनि-प्रेपक भाग को अपने ओठों के पास करके कोई बात करते हैं, तब हमारी आवाज की गति को वह ध्वनि-प्रेपक यन्त्र लगभग चालीस लाख गुना तेज कर देता है।

दुनिया के एक छोर पर खड़े होकर हम टेलीफोन द्वारा, दुनिया के किसी भी दूसरे छोर पर खड़े व्यक्ति से, अपनी आवाज को बिना किसी प्रकार तेज किए, स्वाभाविक स्वर में बात कर सकते हैं और वह बात उस व्यक्ति तक काफी ऊँचे स्वर

नीचे : टेलीफोन का यन्त्र
सामने : टेलीफोन द्वारा बातचीत
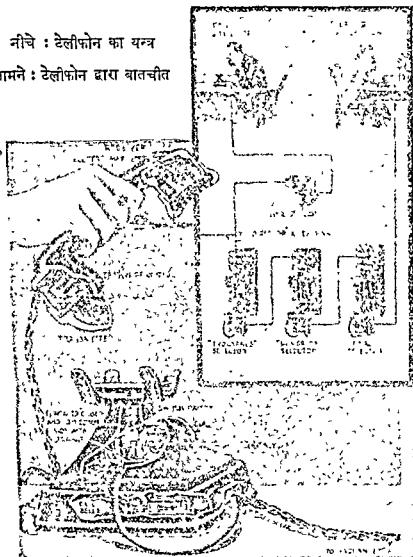
में पहुँच जाती है—उस आवाज से अधिक साफ और ऊँची होकर, जो ३०० फुट लम्बे फुटबाल के मैदान के एक छोर से हम दूसरे छोर पर खड़े व्यक्ति तक चिल्लाकर पहुँचाते हैं।

किसी विशाल समुद्र के एक तट पर खड़ा हुआ ऐसा व्यक्ति, जिसे जोरों का जुकाम हुआ हो और जिसकी आवाज बहुत-कुछ बैठी हुई हो, यदि टेलीफोन द्वारा स्वाभाविक स्वर में, समुद्र के दूसरे तट पर खड़े किसी व्यक्ति से बातचीत करे, तो उसकी आवाज उतनी ही तेज होकर समुद्र का मार्ग तय करेगी, जितनी तेज आवाज लाखों आदमियों के एक साथ चिल्लाने से समुद्र-तट पर हो सकती है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि जिस व्यक्ति से टेलीफोन द्वारा बात की जाती है, उसके कान में भी यह आवाज लाखों व्यक्तियों की सम्मिलित आवाज की तरह पहुँचती है। नहीं, ऐसा नहीं होता। ध्वनि-विस्तारक यन्त्र से जहाँ बोलनेवाले का टेलीफोन उसकी आवाज को चालीस लाख गुना तेज और ऊँचा कर देता है, वहीं जिस व्यक्ति से बातचीत की जाती है, उसके टेलीफोन का ध्वनिग्राहक यन्त्र उस आवाज को एक व्यक्ति की स्वाभाविक और साफ आवाज के रूप में ही सुननेवाले के कानों में पहुँचाता है।

कलकत्ते में एक आदमी टेलीफोन पर धीमी-सी आवाज में बात करे, तो उसे दिल्ली में सहज ही सुना और समझा जा सकता है। यही क्यों, अब तो लन्दन से दिल्ली में बैठे हुए राष्ट्रपति से बहुधा टेलीफोन पर ही सरकारी बातचीत की जाती है। लगभग १८,००० मील की दूरी पर बैठे हुए दो व्यक्ति टेलीफोन द्वारा आज सहज ही बातचीत कर सकते हैं।

टेलीफोन में यह आश्चर्यजनक उन्नति धीरे-धीरे ही हो सकी है। एक समय था, जब टेलीफोन के तार एक मकान के दो कमरों में ही फैलाए गए थे और अलैक्जेंडर ग्राहम बेल सन् १८७६ ई० में

अपने सहायक से सिर्फ इतना ही कह सकते थे—'मिस्टर वाटसन, यहाँ आइए। मुझे आपसे काम है।' लेकिन इसके बाद ६१ सालों में ही टेलीफोन के आविष्कार में गजब की उन्नति हुई है।

फ्रांस में जितने टेलीफोन हैं, उनसे अधिक सिर्फ न्यूयार्क शहर में हैं। अकेले शिकागो में सारे दक्षिण अमरीका से अधिक टेलीफोन हैं। पूरे अफ्रीका में जितने टेलीफोन हैं, उनसे अधिक लास एंजिल्स में हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका में प्रतिदिन लगभग ८,५०,००,००० बातें टेलीफोन पर की जाती है। इससे टेलीफोन की उपयोगिता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

अखबारों में विदेशों की जो खबरें हम पढ़ते हैं, वे टेलीफोन के तारों पर गुजरते हुए ही विदेशों से हमारे देश में पहुँचती हैं। प्रश्न हो सकता है कि टेलीफोन के तार तो जमीन पर गड़े खम्भों के ही सहारे फैले रहते हैं; लेकिन समुद्र में तो कहीं ये खम्भे अथवा तार नहीं होते। फिर ये खबरें समुद्री मार्ग को कैसे तय करती हैं? इसका उत्तर यही है कि जमीन पर ये खबरें टेलीफोन के तारों पर होते हुए गुजरती हैं और समुद्री मार्ग में बिजली के धक्कों के सहारे आकाश-मार्ग से गुजरती हुई हमारे देश में समुद्र-तट पर आ जाती हैं, जहाँ टाइप-राइटर की तरह एक ऐसा यन्त्र रक्खा रहता है, जिस पर बिजली के धक्कों से ये खबरें अपने-आप पहुँच जाती हैं और एक कागज पर टाइप-राइटर की भाँति छप जाती हैं। इस टाइप-राइटर के लिए किसी व्यक्ति की जरूरत नहीं पड़ती। बिजली की शक्ति से यह सब काम होता जाता है। अब तो खबरों के अलावा फोटोग्राफ भी इसी तरीके से एक से दूसरे देश तक चन्द मिनटों में भेज दिए जाते हैं।

बड़े-बड़े शहरों में व्यापारियों, सरकारी दफ्तरों तथा बड़े आदमियों के घरों में एक-एक टेलीफोन रहता है। जरूरत पड़ने पर ये लोग जब जिससे चाहें, घर बैठे बातचीत कर सकते हैं। जिन घरों या दफ्तरों आदि में टेलीफोन लगा रहता है, उनका एक-एक नम्बर होता है। बातचीत करने के पहले यह जरूरी होता है कि हम टेलीफोन का चोंगा उठाकर उस नम्बर से अपना सम्बन्ध जोड़ लें, जिससे हमें बात करनी है। यह सम्बन्ध जोड़ने के लिए हमें सबसे पहले टेलीफोन के चोंगे में इस नम्बर का उल्लेख करना पड़ता है। अब ऐसे भी टेलीफोन चल पड़े हैं, जिनमें १ से लेकर १० तक के अङ्क लिखे रहते हैं। मान लो, हमें ३१५ नम्बर के टेलीफोन से बात करनी है। इसके लिए हमें टेलीफोन के डायल पर इन नम्बरों वाले घेरे में क्रमशः ३, १ और ५ पर अँगुली रखकर यह संख्या बनानी पड़ती है। ऐसा करते ही टेलीफोन के दफ्तर में बैठा हुआ व्यक्ति फौरन हमारे टेलीफोन का सम्बन्ध ३१५ नम्बर के टेलीफोन से जोड़ देता है। यह सम्बन्ध जुड़ते ही ३१५ नम्बर के टेलीफोन पर घण्टी टनटना उठेगी। यही इस बात की सूचना है कि कोई व्यक्ति टेलीफोन द्वारा बात करना चाहता है। बस, इतना हुआ नहीं कि अपने घर में बैठे-बैठे ही दो व्यक्ति मजे से बातचीत कर सकते हैं।

एक टेलीफोन का दूसरे टेलीफोन से सम्बन्ध जोड़ना बहुत ही जिम्मेवारी का काम है। टेलीफोन के दफ्तर में, जहाँ यह सम्बन्ध जोड़ने का काम किया जाता है, तारों का एक जाल-सा नजर आता है। मकड़ी के जाले की तरह इतने तार वहाँ रहते हैं कि देखनेवाले की बुद्धि चकरा जाती है। परन्तु जो लोग यह काम करते रहते हैं, उन्हें इसमें कोई कठिनाई नहीं होती। टेलीफोन का काम करनेवालों में अधिक संख्या युवतियों अथवा स्त्रियों की रहती है। विदेशों में तो विशेष रूप से युवतियाँ ही यह

काम करती हैं। हमारे देश में अभी इस काम को करनेवाली युवतियाँ कम हैं।

टेलीफोन के अगणित तारों का भेद जाननेवाला एक विशेषज्ञ

टेलीफोन के तारों पर हमारी बातचीत बिलकुल गुप्त रहती है, उसे कोई नहीं सुन सकता। परन्तु एक देश से दूसरे देश को टेलीफोन द्वारा जब कोई सन्देश अथवा भाषण भेजा जाता है, तब आकाश-मार्ग से गुज़रनेवाली यह बात कोई भी ऐसा व्यक्ति सुन सकता है, जिसके पास रेडियो हो। लेकिन ऐसा होने पर कोई भी गुप्त बातचीत अथवा सन्देश टेलीफोन द्वारा समुद्र-पार के देशों को भेजना व्यर्थ हो जाता। इसलिए समुद्र-पार भेजे

जानेवाले टेलीफोन में एक विशेष प्रकार की व्यवस्था की गई है, जिसके अनुसार समुद्र पर से आकाश-मार्ग में होते हुए जब कोई सन्देश जाता अथवा बातचीत की जाती है, तब उसका क्रम ऐसा कुछ उलट-पुलट जाता है कि जिस स्थान पर उसे भेजा जाता है, उस तक पहुँचने के पहले वह किसी की समझ में नहीं आ सकता। जिस स्थान से टेलीफोन किया जाता है, वहाँ के टेलीफोन में ही यह विशेषता रहती है कि वह बातचीत, सन्देश अथवा भाषण के क्रम को बिलकुल उलट-पुलटकर ही आगे बढ़ने देता है, और जिस स्थान पर यह ग्रहण किया जाता है, वहाँ के टेलीफोन में फिर उसका क्रम ठीक हो जाता है। इस व्यवस्था से किसी भी गुप्त बात के प्रकट हो जाने की कोई शङ्का नहीं रह जाती।

टेलीफोन के बिना आज बड़े-बड़े शहरों में रहनेवालों की कठिनाइयों की सीमा न रहे। तनिक-तनिक-से काम के लिए कहाँ तक आदमी एक-दूसरे के घर दौड़ता फिरेगा? ऐसा करने में समय की बरबादी तो होगी ही, खर्च भी बहुत होगा और परेशानी होगी अलग। न्यूयार्क की आबादी १,१०,००,००० है। इतनी आबादी के बीच २३,७१,००० टेलीफोन हैं। दैनिक टेलीफोनों की संख्या न्यूयार्क में २,४६,००० है। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि बड़े शहरों में टेलीफोन कितना जरूरी है। व्यापारी अपने घर में बैठे-बैठे लाखों-करोड़ों का सौदा टेलीफोन के द्वारा तय करते हैं। अचानक डाक्टर को बुलाने की जरूरत पड़ने पर टेलीफोन द्वारा उसे बुलाया जा सकता है। जरूरत के वक्त पर पुलिस को भी हम घर बैठे टेलीफोन द्वारा खबर दे सकते हैं।

दुनिया का सबसे बड़ा टेलीफोन का दफ्तर न्यूयार्क में है। इस दफ्तर में ३५०० मील लम्बे टेलीफोन के तारों का जाल बुना

हुआ है। न्यूयार्क और उसके आसपास के क्षेत्र में टेलीफोन के तारों का जो जाल बिछा हुआ है, उसकी लम्बाई इतनी अधिक है कि वह तार पृथ्वी की भूमध्य रेखा को ६०० बार लपेट सकता है। तारों का यह सारा फैलाव जमीन के ऊपर नहीं है। यदि ऐसा होता, तो न्यूयार्क मकड़ी के जाले की तरह दीखता। इन तारों का ७३ प्रतिशत भाग जमीन के नीचे है। इससे टेलीफोन के तार सुरक्षित रहते हैं और शहर का रूप-रङ्ग भी खराब नहीं होने पाता।

न्यूयार्क से शिकागो तक टेलीफोन पर पहल-पहल बातचीत करने का दृश्य

टेलीफोन द्वारा बातचीत करने के सिलसिले में एक प्रश्न और उठ सकता है। वह यह कि एक ही तार पर अनेक संवाद किसी प्रकार दूसरे छोर तक बिना गिचड़ी हुए पहुँच जाते हैं। यह

बहुत कुछ उसी तरह होता है, जिस प्रकार विभिन्न रेडियो स्टेशनों से एक ही समय ब्राडकास्टिंग किया जाता है; लेकिन इनके संवाद अथवा गीत आदि कभी एक-दूसरे में मिलकर खिचड़ी नहीं होते। अन्तर यही है कि रेडियो के संवाद आदि वायु की लहरों पर गुजरते हुए अपना रास्ता तय करते हैं और टेलीफोन के संवाद तार पर। एक ही तार पर भिन्न-भिन्न संवाद एक के बाद दूसरा क्रमशः उस स्थान पर पहुँच जाता है, जहाँ वह भेजा जाता है। तार में बिजली की शक्ति इन संवादों को अलग-अलग रूप से कम्पित करती और ठीक स्थान पर ले जाती है। तार के दूसरे छोर पर बिजली की शक्ति द्वारा ये संवाद अलग-अलग होकर पहुँचते हैं।

टेलीफोन के आविष्कार में इतनी उन्नति हो जाने पर भी अमरीका के अनेक वैज्ञानिकों का इसकी उत्तरोत्तर उन्नति के लिए प्रयत्न जारी है। बोलते हुए सिनेमा, रेडियो ब्राडकास्टिंग और टेलीविजन भी टेलीफोन की उन्नति के ही फल हैं। टेलीफोन सम्बन्धी प्रयोगशालाओं में आवाज को अधिक तेज करने और धीमी करने के प्रयोग हो रहे हैं। इसी सिलसिले में और भी बहुत-से आविष्कार सामने आते-जाते हैं, जो बीसवीं सदी में मनुष्य के लिए तरह-तरह से उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं।

शौर्य और शक्ति का प्रतीक : हाथी

अनादि काल से हाथी एक महत्त्वपूर्ण पशु रहा है। गजेन्द्र की पुकार में भगवान् विष्णु नंगे पैर दौड़े थे; भगवती लक्ष्मी के दोनों ओर जयमाल लिये हाथियों का जोड़ा सुशोभित है। हमारे देवताओं में भी सबसे पहले गजानन अर्थात् गणेश ही की वन्दना होती है। किन्तु क्या हमने कभी इस बात पर विचार किया है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण पशु का क्या उपयोग है तथा प्राचीन काल में इसकी क्या महत्ता थी ?

आज के युग में हाथी का महत्त्व बहुत कम हो गया है। आज तो हम हाथी को सरकस और अजायबघरों में बन्द देखते हैं। फिर भी कुछ प्रदेश ऐसे हैं, जहाँ मानव के प्रतिदिन के कार्यों में हाथी सहायक होता है। बर्मा, लंका आदि के जंगलों में हाथी पर अब भी लट्ठे और जंगली लकड़ियों के बड़े-बड़े टुकड़े लदकर एक स्थान से दूसरे पर ले जाते हैं। लेकिन यह कार्य हाथी के गौरव के अनुकूल नहीं।

हाथी का वास्तविक गौरव भारत के राजनीतिक अधःपतन के साथ लुप्त हो गया। यद्यपि यह सच है कि जुलूस आदि में आज भी हाथी की प्रधानता रहती है; परन्तु प्राचीन काल में हाथी शौर्य और शक्ति का प्रतीक था। जिस राजा के दरबार में जितने अधिक हाथी रहते थे, वह उतना ही शक्तिशाली माना जाता था। दिल्ली के निकट प्राचीन काल मे हस्तिनापुर नामक नगर था। इसका यह नाम इसी बात का-सूचक है कि यह हाथियों का नगर था। कौरव-पाण्डवों की राजधानी इसी हस्तिनापुर में थी।

भारत के इतिहास में वैदिक युग से ही हाथी की महत्ता देखी

जाती है। किसी राज्य का कोई उत्तराधिकारी न होने पर यह काम शाही हाथी को ही सौंपा जाता था कि वह उत्तराधिकारी को
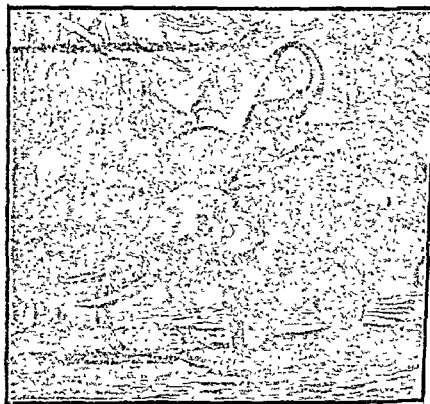
एक जंगली हाथी

चुने। अनेक प्रदेशों में भ्रमण करता हुआ वह हाथी अपनी सूंड़ की जयमाल *जिस व्यक्ति के गले में डाल देता था, वही व्यक्ति* उस देश का राजा मान लिया जाता था।

इतिहास साक्षी है कि युद्ध-क्षेत्र में हाथियों की बदौलत ही अनेक साम्राज्य धूल में मिल गए। सिकन्दर-पोरस, मीर कासिम-दाहिर, वैरमखाँ-हेमू इत्यादि के उदाहरण हमारी आँखों के सामने हैं। इन उदाहरणों में हम देखते हैं कि हाथी के भीषण रूप धारण कर लेने पर आर्य-सभ्यता का नाश और यवनों का उत्कर्ष हुआ। इसका उत्तरदायित्व अनेक अंशों में हमारे सेना-सञ्चालन की त्रुटियों पर भी है। विजयनगर का विशाल हिन्दू साम्राज्य क्षण मात्र में हाथी द्वारा ही पददलित कर दिया गया था। अहमदनगर के सुलतान और विजयनगर के राम राजा से युद्ध हो रहा था। सहसा एक हाथी भड़क गया और उसने रामराजा पर आक्रमण कर दिया। रामराजा गिर पड़ा और बन्दी बना लिया गया।

लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि हाथी एक समझदार पशु है। कहते हैं, एकबार गोआ के बाजार में एक हाथी बिगड़ खड़ा हुआ। उसने न जाने कितने निर्दोष आदमियों को कुचल डाला, न जाने कितनी दूकानों को ध्वस्त कर दिया। वह क्रोध से पागल हो रहा था। इस भाग-दौड़ में एक स्त्री का बच्चा सड़क पर छूट गया था। स्त्री मारे डर के चीख रही थी कि हाथी आ पहुँचा। कुछ दिन पहले उस स्त्री ने इस हाथी को फल खिलाए थे। बुद्धिमान और कृतज्ञ हाथी को सारी बातें याद आ गईं और उसने कोमलता से बच्चे को सूँड़ द्वारा उठाकर चुपचाप एक दूकान के तख्ते पर बैठा दिया।

मुगलकाल के बादशाहों में अकबर से लेकर औरंगजेब तक सभी ने हाथी को अपनी सेना में और दरबारी शान बढ़ाने में उचित महत्ता दी। अकबर को हाथी बड़े प्रिय थे। वह हाथियों की फौज की एक अलग टुकड़ी रखता था। उसके राज्य के मनसबदारों को घोड़ों के अतिरिक्त हाथियों की भी एक निश्चित

संख्या रखनी पड़ती थी। अकबर को हाथियों के साथ खेलकूद में भी बड़ा मजा आता था। इसके अतिरिक्त जब राज्य में कोई हाथी पागल हो जाता अथवा कोई फौजी हाथी बिगड़ खड़ा होता और प्रजा में त्राहि-त्राहि मच जाती, तो साहसी अकबर उस हाथी को किसी दूसरे हाथी से लड़ा देता और इस प्रकार प्रजा में जहाँ शान्ति स्थापित हो जाती, वहीं उन हाथियों के अरमान भी निकल जाते थे।

जहाँगीर के समय में यह प्रथा थी कि शहंशाह के जन्म-दिवस पर शाही हाथी रेशमी वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित किए जाते और बादशाह को शीश झुकाकर वे उसका अभिवादन करते थे।

शाहजहाँ के समय में हाथियों के अनेक भव्य चित्रों और सुन्दर मूर्त्तियों का निर्माण हुआ। वास्तुकला और स्थापत्यकला के क्षेत्र में भी हाथियों को उपयुक्त स्थान मिला।

मुगलकाल में हाथियों के प्रधान रूप से दो उपयोग होते थे। एक तो यात्रा करने और घूमने के लिए और दूसरे शाहजादों के लिए कौतुक रूप में।

बड़ी-बड़ी शहजादियाँ और बेगमें हाथी पर बैठकर ही लम्बी-लम्बी यात्राएँ करती थीं। बादशाह जहाँगीर ने लिखा है कि प्रजा का निरीक्षण करने और गरीबों को दान देने वह हाथी पर ही निकलता था।

मुगलकाल में शहजादों के आमोद-प्रमोद के लिए हाथियों के मुठभेड़ की योजना की जाती थी। इस प्रकार के आयोजन में अकबर बड़ी दिलचस्पी लेता था। इस मुठभेड़ में बहुधा महावतों की मृत्यु तक हो जाती थी। इतना ही नहीं, दर्शक-वर्ग में से भी अनेक चोट-चपेट खा जाते थे।

बादशाह जब खुश होते थे, तो अपने दरबारियों को 'खिलअतें'

प्रदान करते थे। इस खिलअत में हाथी भी शामिल था। लेकिन सफेद हाथी की भेंट अपशकुन मानी जाती थी। कहते हैं, जब स्याम का राजा अपने किसी दरबारी को भीख मँगवाकर दण्ड देना चाहता था, तो उसे सफेद हाथी भेंट करता था।

मुगल-काल में हाथियों का एक उपयोग और होता था, अर्थात् युद्ध के समय तोपखाना ढोना। राणा अमरसिंह के विरुद्ध अकबर ने जो तोपखाने की अस्सी टुकड़ियाँ भेजी थीं, वे सब हाथियों पर ही लदकर गई थीं। बादशाह जब कहीं दूर-देश की यात्रा करता था, तो खेमे, तम्बू और रसद का सामान अधिकतर हाथियों पर ही ढोया जाता था।

हाथियों का एक क्रूर उपयोग, जो सुनने में आता है, वह है दण्ड-विधान में उनका योग देना। यह प्रथा जहाँगीर के समय में भी प्रचलित थी कि मौत की सजा पानेवाले को अकसर हाथी के पैरों तले कुचलवा डालते थे। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि गंग की मृत्यु इसी प्रकार हुई थी।

संयुक्त राज्य अमरीका में इस पशु का एक मजेदार उपयोग कुछ दिन पूर्व किया गया था। सुसन्ना नामक प्रसिद्ध हाथी चुनाव के दिनों में अपनी सूँड़ में चंदे का बक्स लिये हुए घूमता-फिरता था। और, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। आज भी यदि हम चाहें तो उचित शिक्षा-दीक्षा से इस अपूर्व शक्तिशाली और बुद्धिमान पशु से अनेक काम ले सकते हैं।

युग-युग का हमारा साथी : घोड़ा

बीसवीं सदी विज्ञान का युग है। आजकल किसी भी बड़े शहर में चले जाइए, विज्ञान के आविष्कारों के अनेक रूप आप सहज ही देख सकेंगे। बड़े शहरों की सड़कों पर ट्राम-गाड़ियाँ और मोटरें अब इतनी अधिक संख्या में चलने लगी हैं कि घोड़ा-गाड़ी कहीं भूल-चूक से ही दीख पड़ती है। यही क्यों, एक शहर से दूसरे शहर को जाने के लिए अब रेलगाड़ी से कहीं अधिक मोटर और हवाई जहाज का चलन हो गया है। विज्ञान के इन आविष्कारों के सामने, ऐसा मालूम पड़ता है, मानो शहरों में घोड़े की कोई जरूरत ही नहीं रही। यह भी कहा जा सकता है कि धीरे-धीरे घोड़ों का नाश हो रहा है। परन्तु ऐसा सोचना गलत है।

संसार के भिन्न-भिन्न देशों के घोड़ों की जो संख्या समय-समय पर प्रकाशित होती है, उसे देखकर यह मानना पड़ता है कि घोड़ों का नाश नहीं हो रहा है। घोड़ा मनुष्य के साथ-साथ इस संसार में सदा रहेगा—इसलिए नहीं कि वह उपयोगी जानवर है, बल्कि इसलिए कि अज्ञात काल से उसे मनुष्य का प्रेम मिला है और उसने भी बदले में मनुष्य को बहुत कुछ दिया है।

घोड़े पर सिर्फ इँगलैंड में ही २००० से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। लगभग इतनी ही पुस्तकें दूसरे देशों में भी छापी गई हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि घोड़ा कितना उपयोगी जानवर है और मनुष्य उसे कितना चाहता है।

भारतवर्ष, इँगलैंड और अमरीका आदि देशों के इतिहास में से यदि घुड़सवारों की वीरता अलग कर दी जाय, तो इतिहास में

कुछ न रह जायगा। प्राचीन काल में रथ पर बैठकर अथवा घोड़ों पर चढ़कर ही युद्ध किया जाता था। कितने ही घुड़सवार विजयी वीरों की मूर्त्तियाँ, उनकी स्मृति को ताजा बनाए रखने के लिए स्थापित की गई हैं। अमरीका आदि पश्चिमी देशों में

घोड़ों की दो सुन्दर मूर्त्तियाँ

संगमर्मर अथवा अन्य किसी कीमती धातु से बनी घोड़ों की मूर्त्तियाँ विभिन्न स्थानों पर खड़ी की गई हैं। इनकी स्थापना किसी महान् कार्य अथवा वीर की स्मृति में की गई है।

अब घोड़ों पर बैठकर युद्ध करने की रीति नहीं रही। अब तो तोपों, बमों और तरह-तरह की गैसों का प्रयोग किया जाता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि घोड़े की उपयोगिता

कम हो रही है। कितने ही रईस आज भी घुड़सवारी करते और शौक से घोड़े रखते हैं। राजा-महाराजाओं के यहाँ एक से एक बढ़िया और कीमती घोड़े रक्खे जाते हैं। युद्ध में अब घोड़े की आवश्यकता भले ही न समझी जाय, लेकिन घुड़दौड़ का शौक प्रायः सभी देशवासियों में बढ़ रहा है। इसके लिए घोड़ों का पालन और उनकी देख-रेख उसी तरह की जाती है, जिस प्रकार पहले लड़ाई के मैदानों पर जानेवाले घोड़ों की की जाती थी। घोड़े भी एक से एक बढ़-चढ़कर रक्खे जाते हैं।

घुड़दौड़ के सिवा 'पोलो' नामक एक खेल भी घोड़े पर चढ़-कर ही खेला जाता है। अमरीका और इँगलैंड में इस खेल का बहुत चलन है। इसके अलावा रईस लोग अपनी बग्घियों में भी घोड़ों को जोतते और हवा खाने दूर-दूर तक जाते हैं। जिन शहरों में ट्राम-गाड़ियों का चलन नहीं हो पाया है, वहाँ अब तक इक्के और ताँगे वगैरह ही मुख्य सवारियाँ हैं, जिनमें घोड़े जोते जाते हैं।

घोड़े के इतिहास का प्रारम्भ, आज से लगभग ६० लाख वर्ष पहले से होता है। इस लम्बे समय में उसके रूप-रङ्ग और डील-डौल में अनेक परिवर्त्तन हो गए हैं। प्रारम्भ का घोड़ा आज के घोड़े के समान नहीं था। आज घोड़े का जो रूप-रङ्ग है, वह धीरे-धीरे ही बन सका है। मनुष्य का जैसा हाल है, लगभग वैसा ही घोड़े का है।

मनुष्य ने अनादि काल से जो सफर किए हैं, युद्धों में जो विजय-मालाएँ पहनी हैं, उन सबमें घोड़ा बराबर उसका साथी रहा है। भूमि को उपजाऊ बनाकर और कृषि की फसलें उत्पन्न कर इस पृथ्वी पर जिस सभ्यता का दर्शन हुआ और जिस नागरिकता का युग आया है, उसमें भी घोड़े की सेवाएँ भुलाई नहीं जा सकतीं।

कुछ लोगों का कहना है कि एशिया के जंगलों में पहले-पहल जो जंगली घोड़े पाए गये, उन्हीं की नस्ल के घोड़े आज सारी दुनिया में हैं। लेकिन अरबी घोड़ों के जानकार इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है कि अरब के घोड़े एशिया अथवा उत्तर और दक्षिण अमरीका के घोड़ों की नस्ल से भिन्न हैं। हो सकता
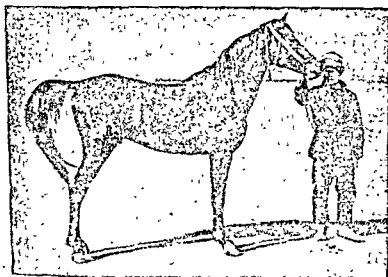
एक स्वस्थ सुन्दर घोड़ा

है, अरबी घोड़ों की नस्ल अफ्रीका में रही हो। कारण, अफ्रीका 'वार्ब' नामक घोड़ों का जन्मस्थान है। अफ्रीका में इन घोड़ों के अलावा गधे, जेब्रा आदि जानवर भी पाये जाते हैं, जो घोड़े से मिलते-जुलते हैं। 'वार्ब' नामक घोड़े में और अरबी घोड़े में बहुत कम भिन्नता है। लेकिन अन्य घोड़ों में और अरबी घोड़ों में काफी अन्तर है।

पहले-पहल, मनुष्य को जब घोड़े का पता लगा, तब वह

एशिया की समतल भूमि पर पाया गया था। शिलालेखों आदि के द्वारा यह पता चला है कि लगभग ३४०० वर्ष पहले मिस्र देश में घोड़ों के रथ चलते थे। हमारे यहाँ भी सतयुग, त्रेता और द्वापर युग में रथों का चलन बहुत था। आज भी रथ चलते हैं, पर अब ये रथ किसी उत्सव की ही शोभा के लिए होते हैं।

मिस्र देश का ३४०० वर्ष पुराना रथ

भारत तथा अन्य देशों में बहुत समय तक घुड़सवारों की सेनाओं का चलन था। एक राजा जब दूसरे पर चढ़ाई करता था, तब उसे स्वभावतः यह चिन्ता रहती थी कि उसकी सेना के घोड़े यदि शत्रु के घोड़ों से अधिक तैयार, मजबूत और चतुर न हुए, तो विजय की आशा कम रहेगी। ऐसी दशा में प्राचीन काल से ही घोड़ों की नस्ल सुधारने और उन्हें तरह-तरह के युद्ध-सम्बन्धी काम सिखलाने का यत्न किया गया। इसी का फल है कि आज का घोड़ा अपने पूर्वजों—जङ्गली घोड़ों—से कहीं अधिक सभ्य और उपयोगी हो गया है।

घोड़े के इतिहासकारों का कहना है कि मनुष्य ने पहले-पहल घोड़ों का उपयोग उन्हें रथ में जोतकर किया। उस समय राजा-महाराजा रथ पर बैठकर युद्ध करने जाते थे। पहले जिन रथों में घोड़े जोते जाते थे, वे रथ आकार में छोटे होते थे। उनमें लोहे के दो पहिए होते थे। रथ से मिलती-जुलती गाड़ियों में भी घोड़े जोते जाते थे। इन गाड़ियों पर सैनिकों के लिए भोजन-सामग्री ढोई जाती थी। युद्ध का सामान भी इन्हीं गाड़ियों पर लादा जाता था।

इसके बाद घोड़े पर सवारी करने का चलन हुआ और उसे तरह-तरह की दौड़ सिखाई गई। हमारे देश में भी घोड़े कदम, दुलकी, सरपट आदि कितनी ही तरह की दौड़ें लगाते देखे जाते हैं। छोटे-मोटे नदी-नालों अथवा गड्ढों को लाँघ जाना, पाँच-छह फुट ऊँची बाड़ी आदि को कूदकर पार कर जाना भी अच्छी नस्ल के शिक्षित घोड़ों के लिए आसान काम है। ९ जून, सन् १९२३ ई० को शिकागो में घोड़ों के खेल-प्रदर्शन में एक घोड़ा ८ फुट $\frac{13}{16}$ इंच की ऊँचाई कूद गया था। इसके पहले ८ फुट $\frac{3}{4}$ इंच तक की ऊँचाई ही किसी घोड़े ने कूदकर पार की थी।

जलवायु तथा खुराक की भिन्नता के कारण अब प्रायः प्रत्येक देश के घोड़े की अलग-अलग नस्लें हो गई हैं। भले ही एक-दूसरे देश के घोड़ों में थोड़ा ही अन्तर हो; लेकिन इसी अन्तर अथवा भिन्नता के कारण उनकी नस्लों में भी थोड़ा-बहुत भेद मान लिया गया है। इस दिशा में भिन्न-भिन्न देशों को अपने देश के घोड़ों पर गर्व है—फिर वे घोड़े चाहे जिस कद अथवा नस्ल के हों।

प्रत्येक देश में घोड़ों की शक्ति, चाल-ढाल और कुशलता के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ किंवदन्तियाँ भी पाई जाती हैं ताकि देश लोगों की यह भावना दृढ़ बनी रहे कि राष्ट्र की उन्नति में मनुष्य

के साथ-साथ घोड़े का भी बहुत-कुछ हाथ है। इस भावना से घोड़ों की नस्ल में दिनोंदिन उन्नति करने और उन्हें शक्तिशाली बनाए रखने में बड़ी सहायता मिलती है।

बच्चों का मनोरंजन भी घोड़ों और गधों द्वारा काफी हो जाता है। बच्चों के साथ ये जानवर भी काफी ईमानदारी से पेश आते हैं, शर्त यह है कि बच्चे उन्हें खाने-पीने की चीज़ें देते रहते हों और उन्हें प्यार से थपथपाते रहते हों। कितने ही बच्चे

स्काटलैंड में बच्चों का मनबहलाव

घोड़ों को बड़े प्यार से खाना खिलाते और उन पर सवारी भी करते हैं। कहीं-कहीं गधों पर भी बच्चे बैठते और अपना मन बहलाते हैं।

इंगलैंड में घोड़ों का पता पहले-पहल ईसवी सन् से कई सदियों पहले लग चुका था। रोमन हमले के समय यहाँ के आदि-वासी घोड़ों पर चढ़कर दूर-दूर तक व्यापार करने जाया करते थे। कहते हैं, ये आदि-वासी भूमध्य सागर और अटलांटिक

महासागर के कितने ही बन्दरगाहों तक व्यापार के सिलसिले में पहुँच चुके थे। और, उनके व्यापार का मुख्य साधन था घोड़ा।

अफ्रीका में लीबियन लोगों के पास बहुत ही बढ़िया नस्ल के हृष्ट-पुष्ट घोड़े पाए जाते थे। अरबवालों के पास जब घोड़े पाए गये, उस समय से भी पहले लीबियन लोगों के पास बढ़िया घोड़े थे। बहुत सम्भव है, मिस्र देश में होकर यही घोड़े अरब पहुँचे हों। धीरे-धीरे इनकी एक अलग नस्ल बन गई।

खच्चरों का उपयोग पहले प्रायः होता ही नहीं था। पुराने जमाने में जब इँगलैंड में वजनदार लोहे के जिरहबख्तर पहनकर योद्धा लड़ाइयों पर जाने लगे, तब मामूली घोड़ों के लिए इस प्रकार का वजन आनन-फानन् ढोना कठिन हो गया। इँगलैंड के ये योद्धा तभी से भारी वजन ढोने के लिए खच्चरों से काम लेने लगे।

अमरीकन घोड़े अपनी चाल के लिए संसार भर में प्रसिद्ध हैं। उन्हें इतनी अच्छी शिक्षा दी जाती है कि वे अपने सवार का तनिक-सा इशारा पाते ही उसी क्षण एक से दूसरी चाल चलने लगते हैं। अमरीका के घोड़ों की तरह इँगलैंड के घोड़ों में भी भिन्न-भिन्न प्रकार की चालें पाई जाती हैं। अमरीका से ही सीखकर यहाँवालों ने अपने घोड़ों को ये चालें सिखलाई होंगी। अमरीका से भी पहले वर्जीनिया के घोड़ों में अनेक प्रकार की चालें पाई जाती थीं। वर्जीनिया में घोड़ों को तरह-तरह की चालें सिखलाने की रीति बहुत ही पुरानी है।

जो घोड़ा जितनी अधिक चालें सीख लेता है, उसका मूल्य उतना ही अधिक आँका जाता है। अमरीका, इँगलैंड, वर्जीनिया और भारतवर्ष में ऐसे घोड़ों को अनेक रईस खरीदते और उन पर चढ़कर घुड़सवारी का शौक पूरा करते हैं। अमरीका के पहले प्रेसीडेंट वाशिंगटन को घोड़े की सवारी का बहुत ज्यादा शौक

था। उनके घोड़े बिलकुल सफेद रङ्ग के थे। इन घोड़ों की वे बहुत ज्यादा देख-रेख करते थे। नियम से इन्हें नहलाया-धुलाया जाता था और रात में इन घोड़ों के शरीर के नाप के कपड़े उन पर डाल दिये जाते थे। उनकी घुड़साल बहुत साफ-सुथरी रहती थी। सवेरे वाशिंगटन जल्दी जाग उठते और सूर्योदय के समय अपनी घुड़साल को स्वयं देखते थे। उन्हें लोमड़ी के शिकार का खास शौक था। यह शिकार करने वे घोड़े पर चढ़कर जाते थे। इनके घोड़े दर्शनीय थे।

अमरीका में बहुधा घोड़ों की चोरी हो जाती थी। इसे रोकने के लिए वहाँ कानून बनाया गया, जिससे कोई किसी दूसरे के घोड़े को अपना न कहने लगे। देश-भर के गाँवों में निरीक्षण-समितियाँ स्थापित की गई थीं, जो ऐसे मामलों पर गौर करती थीं।

यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि घोड़े की उम्र कितनी होती है। किसी खास किस्म के घोड़े की उम्र अधिक अथवा कम होती है, यह भी नहीं कहा जा सकता। अधिकतर यही देखा गया है कि यदि घोड़े की परवा बराबर की जाय और उसे जितनी जरूरत हो, उतनी पौष्टिक खुराक दी जाय, तो घोड़ा ३५ से ४० साल तक जीवित रहता है। लेकिन ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं। आम तौर पर २० से २५ साल तक अधिकांश घोड़े जीते हैं। ठीक परवा न करने और उचित खुराक न देने पर १२ से १४ साल में ही घोड़े का जीवन समाप्त हो जाता है।

यह भी देखा गया है कि जो घोड़े जल्दी जवान हो जाते हैं, उनकी उम्र अधिक नहीं होती। इसके विपरीत जो घोड़े धीरे-धीरे बढ़ते हैं, वे अधिक समय तक जिन्दा रहते हैं।

घोड़ों की उम्र का पता लगभग उन्हीं तरीकों से लगाया जाता है, जिनसे बैलों की उम्र का। यह तरीका है दाँत देखकर

उम्र का पता लगाना। बाहरी डील-डौल को देखकर घोड़े की उम्र का उतना दुरुस्त पता नहीं लगाया जा सकता, जितना उसके दाँतों को देखकर। जन्म-काल से लेकर छह साल तक घोड़े के शरीर में जो विकास होता है, उसका प्रभाव उसके दाँतों पर सहज ही देखा जा सकता है। इसके बाद भी घोड़ों के दाँतों के जानकार उसकी उम्र का पता लगा लेते हैं।
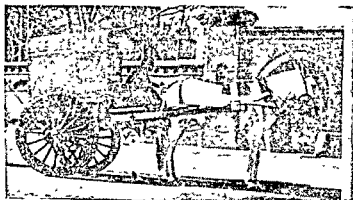
चीन की एक घोड़ागाड़ी

घोड़े पर सवारी करने का शौक सिर्फ पुरुषों को ही नहीं होता, बल्कि कुछ स्त्रियों को भी होता है। मंगोलिया की स्त्रियाँ आम तौर पर घोड़े पर बैठकर लम्बी-लम्बी मंजिलें तय करती हैं। बड़े-बड़े मेलों में भी ये स्त्रियाँ घोड़ों पर बैठकर ही जाती हैं। चीन में कहीं-कहीं गाड़ी में घोड़े जोते हैं। इन गाड़ियों का आकार-प्रकार बहुत कुछ भारतवर्ष की बुन्देलखण्डी बैलगाड़ियों से मिलता-जुलता होता है। इन दोनों देशों की गाड़ियों के पहियों में एक विशेष अन्तर है। चीन की गाड़ियों के पहियों में मोटे सिरवाले कीले चतुराई से लगाए जाते हैं, जो बहुत ही सुन्दर

दिखाई देते हैं। इन गाड़ियों में दो बैलों की जगह सिर्फ एक घोड़ा जोता जाता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि घोड़ा इस दुनिया के सभी देशों के मनुष्यों के लिए अत्यन्त उपयोगी जानवर है। आदिम युग से लेकर अब तक इसकी उपयोगिता में सन्देह नहीं किया जा सकता। बच्चों से लेकर स्त्रियां और पुरुषों का मनोरञ्जन तथा उनकी घुड़सवारी का शौक जहाँ घोड़ा पूरा करता है, वहाँ युद्ध के मैदान में भी घोड़े की जरूरत रहती है। माना कि आज अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हो चुके हैं और घोड़े पर चढ़कर युद्ध करने की आजकल जरूरत नहीं रह गई है, फिर भी युद्ध-सम्बन्धी सामान आदि ढोने तथा ऊँची-नीची पहाड़ियों पर जब कभी चढ़ने का मौका आता है, तब विज्ञान के आविष्कार काम नहीं देते; बल्कि घोड़ा ही मनुष्य की जरूरतें पूरी करता है।

मरुस्थल का जहाज : ऊँट

मुसलमानों के धार्मिक ग्रन्थ-कुरान की रचना करते समय मुहम्मद साहब ने ऊँट के संबंध में लिखा था—'ऊँट ईश्वर की चतुराई का नमूना है।' और मुहम्मद साहब की इस बात को संसार के अगणित मनुष्यों तथा देशों ने अक्षरशः सत्य पाया।

मरुस्थलवाले देशों में ऊँट बड़ा उपयोगी जानवर है। मरुस्थल में यात्रा करने के लिए ऊँट कितना उपयोगी है, इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि इसे 'मरुस्थल का जहाज' कहा जाता है। यही नहीं, ऊँट यात्रियों के भोजन तक का काम देता है। सामान ढोने में तो ऊँट की बराबरी शायद ही अन्य कोई जानवर कर सके।

ऊँट कब से मनुष्य का पालतू जानवर बना, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। प्रागैतिहासिक काल से ही ऊँट ने मनुष्य का साथ दिया है। ऊजड़ और अत्यन्त गर्म देशों में ऊँट ही मानव-जीवन का सबसे बड़ा सहारा है।

ऊँट दो प्रकार के पाए जाते हैं। अरब में एक कूबड़वाला ऊँट होता है और एशिया में दो कूबड़वाला बैक्ट्रियन ऊँट। दो कूबड़-वाला ऊँट ऐसी वनस्पतियाँ भी खाकर सन्तुष्ट रहता है, जिन्हें अन्य जानवर कभी नहीं खा सकते। आर्कटिक की तीखी ठंडी हवाएँ भी इस ऊँट का कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं।

अरबी ऊँट लम्बी टाँगोंवाला होता है और मरुस्थल की यात्रा के लिए बड़ा उपयोगी है। बैक्ट्रियन ऊँट कुछ छोटी टाँगोंवाला होता है, जो चट्टानी और विषम भूमि पर सरलता से चल सकता है।

प्राचीन काल में जितने भी युद्ध हुए, उनकी सामग्री ढोने और नर-नारियों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में ऊँट ही

ऊँट

सबसे अधिक सहायक सिद्ध हुआ। बाइबिल में ऊँट की यही महत्ता दर्शाई गई है, जो मनुष्य की। प्राचीन काल में ऊँट ही

मनुष्य की सम्पत्ति समझा जाता था। जिसके पास जितने अधिक ऊँट होते थे, वह उतना ही धनवान् माना जाता था।

ऊँटनी से दूध और मक्खन तथा नये ऊँटों से प्राप्त होनेवाला मांस मरुस्थल में रहनेवाले अनेक नर-नारियों के लिए वरदान है। ऊँट के बालों से रस्सियाँ, तम्बू और कपड़े भी बनाए जाते थे।

अरबी भाषा में वहाँ का साहित्य ऊँट-सम्बन्धी सुन्दर और हृदयग्राही कविताओं तथा गीतों से भरा पड़ा है। आग की भाँति धधकते रेगिस्तान में जब प्राचीन काल में ऊँटों के काफिले अपने गन्तव्य स्थान की ओर बिना किसी रुकावट के बढ़ते जाते थे, तब कितने ही कवियों के कण्ठस्वर इन ऊँटों के साहस और इनकी उपयोगिता पर फूट पड़े और वहाँ का साहित्य ऊँट सम्बन्धी गीतों से सम्पन्न होता गया। इन गीतों को गाते-गुनगुनाते हुए कितने ही यात्री रेगिस्तान की बेचैन कर देनेवाली थकावट को आज भी हँसते-हँसते सह लेते हैं और उत्साह की लहरें उन्हें आगे बढ़ने में सहायता पहुँचाती हैं।

ऊँट के पैरों की बनावट ऐसी होती है कि रेत में अन्य जानवरों की भाँति उसका पैर धँसता नहीं और न किसी तरह की रुकावट लाता है। वह सरलता के साथ तेजी से आगे बढ़ता जाता है।

ऊँट की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मरुस्थल में वह कई दिनों तक बिना पानी पिए ही यात्रा करता जाता है। परन्तु अधिक बोझ लादकर ऊँट तीन सप्ताह से अधिक समय तक बिना पानी पिए यात्रा नहीं कर सकता। ऊँट को भी अन्य जानवरों की भाँति प्यास लगती है। परन्तु उसके पेट में कुछ ग्रन्थियाँ ऐसी होती हैं, जिनमें वह काफी मात्रा में पानी पीकर जमा कर

लेता है, और यही पानी तीन सप्ताह तक उसकी प्यास बुझाते रहने में सहायक होता है।

किसी मरुस्थल में यात्रा करते समय जब बहुत दिनों तक ऊँट पानी नहीं पी सकता, वह कुछ दुबला दिखने लगता है और उसकी कूबड़ भी कुछ-कुछ पिचक जाती है—कुछ छोटी दिखने लगती है।

बोझ से लदा हुआ ऊँट रेगिस्तान की जलती हुई रेत में भी जुगाली करते हुए चैन से चला जाता है। जिस गर्मी में शेर-चीता भी छाया में जाने के लिए व्याकुल हो उठते हैं, उस गर्मी में भी ऊँट विचलित नहीं होता।

ऊँट बड़े रूखे स्वभाव का होता है। यह अपने सवार को भी कभी-कभी काट खाता है और उसके प्राण ले लेता है। जो आदमी इसे घास-पत्ती देता है, कभी-कभी उसके हाथ को भी ऊँट अपने दाँतों से काट खाता है, अथवा उसकी पीठ पर अपने दाँत गड़ा देता है और काफी मांस नोंच लेता है।

ऊँट के इस रूखे और निर्दय स्वभाव के लिए शायद अरबी लोग ही उत्तरदायी हैं, कारण अरबी लोग उसके साथ प्रारंभ से ही उसी प्रकार रूखा व्यवहार करते आ रहे हैं, जैसा वे वृद्धा स्त्रियों के साथ करते हैं। अरबी लोग एक ऊँट पर लगभग २० मन का बोझ लाद देते हैं और तीन या चार दिन में उसे ८० मील तक की यात्रा करने पर विवश कर देते हैं। इस यात्रा में यदि ऊँट चल बसा, तो ये लोग कहने लगते हैं—'किस्मत की बात है।' और यदि ऊँट बच गया, तो यात्रा पूरी होने पर उसे किसी चरागाह में छोड़ दिया जाता है, जहाँ एक सप्ताह चरकर वह फिर यात्रा करने योग्य हो जाता है। इसी निर्दय व्यवहार ने संभवतः ऊँट को रूखे और कठोर स्वभाव का जानवर बना दिया है।

ऊँट को अपना पेट भरने के लिए बढ़िया पत्ती या घास की आवश्यकता नहीं। उसे रद्दी-सा भूसा मिल जाय अथवा बबूल की कँटीली पत्तियाँ, तो उसे भी बड़ी रुचि के साथ वह खा लेता है। मरुस्थल में पाई जानेवाली ऐसी रद्दी वनस्पतियाँ खाकर भी ऊँट सन्तुष्ट और हृष्ट-पुष्ट रहता है, जिन्हें दूसरे जानवर खा नहीं सकते और फलतः भूखे रहकर अपने जीवन से हाथ धो सकते हैं।

ऊँट जब आपस में लड़ते हैं, तब क्रोध से उनके नथुने फूल जाते हैं, जोरों से वे गुर्राते हैं और न केवल एक-दूसरे को काट लेते हैं; बल्कि आस-पास के दर्शकों पर भी हमला कर बैठते हैं।

भूगर्भ में ऊँट की जो हड्डियाँ पाई गई हैं, उनसे पता चलता है कि ऊँट पहले-पहल उत्तरी अमरीका में उत्पन्न हुआ था। वहाँ सभी प्रकार के ऊँटों की हड्डियाँ पाई गई हैं। परन्तु आजकल तो दक्षिण अमरीका में पाए जानेवाले 'लामा' को ही ऊँट का चचेरा भाई कहा जा सकता है, जिसका आकार-प्रकार ऊँट से ही मिलता-जुलता है। अमरीका में लामा से बोझ ढोने का काम लिया जाता है।

जब तक संसार में मरुस्थल हैं और कम खर्च में मनुष्य उन्हें पार करना चाहेगा, तब तक ऊँट की आवश्यकता और उसकी उपयोगिता बराबर बनी रहेगी।

वायुयान

हवाई जहाजों का प्रचलन आजकल हमारे देश में भी इतना हो चुका है कि प्रायः सभी बालकों ने आकाश में इन्हें उड़ते हुए देखा होगा। बड़े-बड़े नगरों में अब वायुयानों पर बैठकर आकाश में उड़ते हुए नागरिक न केवल यात्रा करने लगे हैं, बल्कि इन्हीं पर अब डाक भी भेजी जाने लगी है। इतने पर भी विदेशों की तुलना मे अभी भारत में वायुयानों का प्रचलन नहीं के बराबर ही कहा जायगा।

ससार में अमरीका को हम वायुयानों का देश कह सकते हैं। सन् १९२७ में वहाँ जितने वायुयान थे, उनसे सौ गुने आज हैं।

आवागमन के साधनों में रेल, मोटर, जहाज आदि गति की दृष्टि से वायुयान का मुकाबला नहीं कर सकते। रेल की तरह पटरियाँ बिछाने, अथवा मोटर की भाँति बढ़िया सड़क बनाने की आवश्यकता वायुयानों के लिए नहीं पड़ती। सड़कें बनाने और रेल की पटरियाँ बिछाने में अमरीका को जहाँ तीन सौ वर्ष लगे, वहाँ २८,००० मील के हवाई मार्गों का प्रबन्ध करने में कठिनाई से केवल पचास वर्ष लगे।

कुछ लोग समझते हैं कि वायुयान में यात्रा करना सबके लिए सम्भव नहीं; परन्तु यह केवल भ्रम है। किसी भी अवस्था का व्यक्ति वायुयान में बिना किसी भय के यात्रा कर सकता है। एक बार ७९ वर्ष के बूढ़े ने दक्षिण अमरीका का चक्कर लगाते हुए १०,००० मील की यात्रा की थी। इसी तरह ७६-७८ वर्ष के एक दम्पति ने अपने वृद्ध-विवाह की खुशी में खासा लम्बा-चौड़ा

सैर-सपाटा किया था। एक बच्ची ने अपने बचपन के ७२ दिन वायुयान पर बैठकर आकाश में विताए थे। एक बार केवल डेढ़

वायुयान

महीने के बालक ने, हँसते-खेलते ३१ घण्टे आकाश में वायुयान पर उड़कर विताए थे।

वायुयान की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी तेज चाल। कई दिनों की यात्रा वायुयान द्वारा केवल कुछ घण्टों में पूरी हो जाती हैं। अधिक-से-अधिक दूरी को कम-से-कम समय में पूरा करने के लिए ही वायुयान की खोज की गई है। एक युग था, जब डाक हरकारों या बैलगाड़ियों द्वारा भेजी जाती थी। फिर घोड़ों का युग आया और घोड़ों के बाद मोटरों, रेलों का प्रचलन हुआ। अब वायुयान का युग है।

वायुयानों की चाल ७५ मील प्रति घण्टे से लेकर १५० मील प्रति घण्टे तक हो गई है। वाशिंगटन से न्यूयार्क तक का २०० मील का मार्ग केवल ८० मिनट में पूरा हो जाता है। सेन-फ्रांसिस्को से लॉस एंजील तक ३४८ मील का मार्ग केवल एक

घण्टा ४८ मिनट में पूरा हो जाता है। डाक और पार्सल ले जाने-वाले विशेष वायुयानों में समय की और भी बचत हो जाती है।

पहले-पहल सन् १८७० ई० में हवाई जहाज द्वारा डाक भेजने की आवश्यकता पड़ी। पेरिस चारों ओर से शत्रुओं से घिरा हुआ था। इस घेरे से बाहर की दुनिया तक अपनी बात पहुँचाने के लिए गुब्बारों से चिट्ठियाँ भेजी गईं। एक-एक गुब्बारे में लगभग छह मन का वजन था। परन्तु यह उपाय ठीक नहीं था। यथास्थान गुब्बारे पहुँच सकेंगे या नहीं, इसका कोई निश्चय नहीं था। फिर मित्रों के पास न पहुँचकर गुब्बारे शत्रुओं के पास भी पहुँच सकते थे। जहाँ को हवा बही, वहीं को उड़ चले गुब्बारे।

सन् १९११ ई० में भारत और इँग्लैण्ड के बीच डाक ले जाने-वाले वायुयान तैयार किए गए। अमरीका ने भी उसी वर्ष इस ओर कदम बढ़ाया। १९१८ ई० में इन प्रयत्नों को अधिक बल मिला और १९२६ तक हवाई डाक का काफी प्रचलन हो गया। १९३१ में इस प्रयत्न में दुगुनी सफलता हाथ लगी और अब तक सफलता की गति बढ़ती ही जा रही है।

संकट की घड़ियों में वायुयान की आवश्यकता बड़ी महत्त्व-पूर्ण है। भक्तों की पुकार पर गरुड़ पर बैठकर जिस प्रकार भगवान् के तुरन्त पहुँच जाने की बात पुराणों में हमने पढ़ी है, उसी प्रकार वायुयान आज के कलियुग में अपना चमत्कार दिखला रहे हैं। असाध्य बीमारी के समय रामबाण दवाएँ मँगवाने के लिए, अकाल पड़ने पर कहीं तुरन्त खाद्यान्न भेजने के लिए, अचानक आ जानेवाले तूफानों आदि में फँसे जहाजों आदि की रक्षा करने के लिए, शत्रुओं से घिरी सेनाओं को आवश्यक सामग्री पहुँचाने आदि के लिए वायुयानों की आव-श्यकता किससे छिपी है ?

अब तो कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी, उपहार आदि भी वायुयानों

द्वारा भेजे जाने लगे हैं। वह समय अब दूर नहीं है, जब हम मोटरों और रेलों की भाँति हवाई जहाजों पर बैठकर ही सैर-सपाटा किया करेंगे और अपने समय की बचत करने में सफल होंगे।

वायुयान काफी लम्बे-चौड़े होते हैं। उनमें यात्रियों के आराम की खासी व्यवस्था रहती है। रूस ने ऐसे हवाई जहाज बनाए हैं, जिनमें ७० यात्री बैठे सकते हैं, एक छापाखाना उसमें होता है तथा सिनेमा के फिल्म लेने और उन्हें दिखलाने का भी प्रबन्ध रहता है।

पशु-पक्षियों की भाँति अब पंखे न रहने पर भी मनुष्य, आकाश की सैर इन वायुयानों द्वारा करने लगा है। दूर-दूर के देशों को निकट लाने और एक-दूसरे देश की सभ्यता का हेल-मेल करने में भी वायुयानों ने बड़ा काम किया है।

विमान चलाने का सबसे पहला प्रयत्न हमारे देश में सन् १९११ ई० में हुआ। मोशिए पिकेट नामक एक युद्ध-कर्मचारी ने डाक ढोने के काम में 'डी एविलांड' किस्म के विमान का उपयोग किया था। प्रयाग मे उस वर्ष जो शिल्प-प्रदर्शनी हुई थी, उसमें प्रदर्शनी के मैदान से छह मील दूर नैनी तक यमुना के ऊपर उड़कर वह डाक ले गया था। इसके चार महीने बाद लन्दन से विण्डसर तक विमान द्वारा डाक ढोने की जो व्यवस्था हुई, उसे ही संसार की सर्वप्रथम विमान डाक-वहिनी कहा जाता है।

भारत में शान्तिकालीन विमान-व्यवस्था की उन्नति में प्रथम महायुद्ध बड़ा सहायक हुआ। सन् १९१८ के नवम्बर और दिसम्बर मास में कप्तान रास स्मिथ नामक एक व्यक्ति मिस्र से उड़कर भारत आया। सन् १९१९ ई० के जनवरी माह में दो अँगरेज उड़ाके इँग्लैण्ड से उड़कर यहाँ आये। उसी वर्ष के अन्त में स्मिथ नामक दो भाई इँग्लैंड से उड़कर भारत में आये
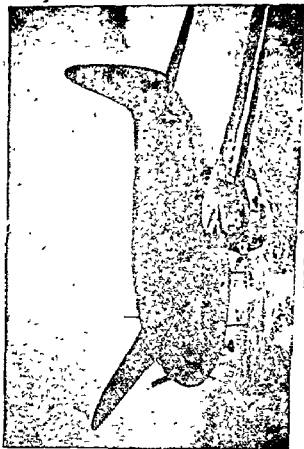
एक बम-फेंक वायुयान

और यहाँ से उड़कर आस्ट्रेलिया गये। सन् १९२० ई० के जनवरी माह में बम्बई के गवर्नर लार्ड लायड के प्रयत्न से नियमपूर्वक विमान डाक-प्रथा चालू की गई। परन्तु यह प्रयोग छह महीने से अधिक न चल सका। पहले दिन जब दो विमान डाक लेकर कराँची से उड़े, तब उन पर केवल १०० पत्र जा रहे थे। धीरे-धीरे इस दिशा में प्रयत्न होते रहे और सन् १९३८ ई० तक भारत में विमानों का यातायात नियमपूर्वक होने लगा।

सन् १९३८ ई० में नौ विदेशी कम्पनियाँ अपने विमान उड़ाने लगी थीं। इनमें ५ विलायती, ३ हालैण्डी और एक फरासीसी थी। इन कम्पनियों के विमान-पथों ने योरप, अफ्रीका, दक्षिण-पूर्व एशिया और आस्ट्रेलिया के साथ भारत का संबंध जोड़ दिया। भारतीय डाक का परिमाण इस वर्ष में एक लाख पौण्ड वजन से भी अधिक हो गया था और ३४०० यात्री आकाश-पथ से भारत आये अथवा यहाँ से गये।

१९४९ ई० में भारतीय विमान आस्ट्रेलिया, लंका, फिलिपाइन्स द्वीप-पुंज, चीन, स्याम, ईरान, मिस्र, इंग्लैड, अमरीका आदि देशों तक बराबर आने-जाने लगे। दिनों-दिन अब आकाश-यात्रा बढ़ती जा रही है।

एक ओर वायुयान जहाँ मानव के लिए इतना उपयोगी है, वहीं दूसरी ओर युद्ध के मैदानों में आकाश में उड़ते हुए वायुयान बम-वर्षा द्वारा शत्रु-सेनाओं का संहार करके मानव के लिए विनाशकारी भी सिद्ध हो रहे हैं। बम-वर्षक वायुयान को आकाश में उड़ता देख, शत्रु-सेना के छक्के छूट जाते हैं।

विध्वंसक जहाज

समुद्र की लहरों पर होनेवाले युद्ध में सुरंगों की विनाशकारी लीला अपना विशेष स्थान रखती है। इन सुरंगों के स्पर्श-मात्र से बड़े-बड़े जंगी जहाज, पलक मारते ही सदा के लिए नष्ट-भ्रष्ट होकर जल-समाधि ले लेते हैं। यों तो ये पनडुब्बियाँ पानी की सतह के नीचे ही अपना काम करती हैं; परन्तु आवश्यकता पड़ते ही तत्काल पानी के ऊपर भी आ जाती हैं।

आधुनिक युग में जिस द्वीप अथवा महाद्वीप का अपने तटवर्ती समुद्र पर जितना अधिक नियन्त्रण होगा, शत्रु द्वारा उसे घेर लिये जाने की उतनी ही कम सम्भावना होगी। जिसकी समुद्री शक्ति (नौसेना) अतुल होगी, उसे पराजित करना लोहे के चने चबाना समझिए।

प्रथम महायुद्ध में जर्मनी ने यह खूब समझ लिया था कि *अँगरेजों की विजय का श्रेय उनकी अतुल नौसेना को ही था।* इस तथ्य को समझकर ही जर्मनी ने सागर के अतल तल में अपनी समुद्री-शक्ति को आशातीत रूप से सम्पन्न बनाने का निश्चय किया और फलस्वरूप दूसरे महायुद्ध में हमने देखा कि जर्मनी ने न केवल विशाल जहाजी बेड़ा तैयार किया; बल्कि जल के भीतर चलनेवाले जहाजों (Submarines) का निर्माण भी किया। अँगरेजी जहाजी बेड़े को ध्वस्त करने के उद्देश्य से जर्मनी ने, जल के भीतर-ही-भीतर नये-नये प्रयोग और आविष्कार किए।

यों तो गोताखोर कहे जाने योग्य पहला जहाज सन् १७७६ ई० में ही बनाया जा चुका था; परन्तु वह ऐसा नहीं था
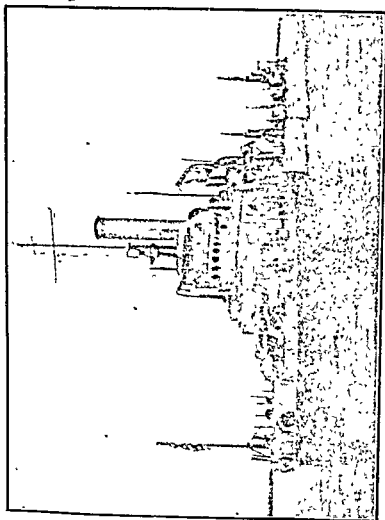
एक विशालकाय युद्धपोत

कि पानी के ऊपर आने की उसे कभी जरूरत ही न पड़े। परन्तु दूसरे महायुद्ध में जर्मनी इस दिशा में बहुत आगे बढ़ चुका था। एक जर्मन गोताखोर ४५ दिन के दौरे में सिर्फ ४ दिन पानी के ऊपर आया था। जर्मनी ने ऐसे ११६ गोताखोर बना डाले थे; किन्तु कुछ त्रुटियों के कारण वह उनका वास्तविक उपयोग न कर सका।

जल के भीतर चलनेवाले इन गोताखोरों अर्थात् पनडुब्बियों (Submarines) ने समुद्र की सतह पर विचरनेवाली तमाम दुनिया में एक तहलका मचा दिया था—संहार-लीला की पराकाष्ठा दिखा दी थी। इन पनडुब्बियों का काम ही होता है, पानी के अन्दर-ही-अन्दर टारपीडो मारकर विशालकाय तैरते जहाजों को ध्वस्त कर देना। सुरंगें बिछाने में भी इन्हीं पनडुब्बियों की सहायता ली जाती है।

प्रतिपल कठिनाइयाँ

पनडुब्बियों में काम करनेवालों को प्रतिपल असीम कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसमें जितने कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है, उससे दुगुने कर्मचारी सदा इस पर रक्खे जाते हैं। बारी-बारी से इन कर्मचारियों से काम लिया जाता है। इनके आराम की विशेष चिन्ता की जाती है। उन्हें ग्रीष्म में भयङ्कर गर्मी और शीतकाल में भयंकर ठण्ड का सामना करना पड़ता है। इस दशा में अन्य अनेक सुविधाओं के अतिरिक्त उन्हें पर्याप्त प्राणप्रद वायु पहुँचाने की व्यवस्था भी की जाती है।

पनडुब्बियों द्वारा समुद्र के गर्भ में सुरंगों का जो जाल बिछा दिया जाता है, उससे बचने के लिए स्वीप वायर (Sweep wire) और कटिंग डिवाइस ट्रेल (Cutting Device Trail) नामक

दो आविष्कार भी हो चुके हैं। लेकिन रक्षा करने के साथ-साथ इन पनडुब्बियों को टारपीडो के साथ ही नष्ट करनेवाले जिन जहाजों का आविष्कार हुआ है, उन्हें विध्वंसक जहाज (Destroyers) कहते हैं।

ब्रिटेन की समुद्री शक्ति का आधार यद्यपि कैपीटल जहाज ही हैं; परन्तु ये जहाँ बहुत बड़े होते हैं, वहीं बड़े महँगे भी पड़ते हैं। इस दशा में छोटे-छोटे विध्वंसक जहाजों के सहारे ही ब्रिटेन ने इटली और ज़र्मनी के छक्के छुड़ा दिये थे।

जिस टारपीडो के स्पर्श-मात्र से बड़े-बड़े जहाज टूट-फूटकर चन्द मिनटों में ही जल-समाधि ले बैठते हैं, उसे ले जानेवाले जहाजों को भी क्षत-विक्षत करने में इन विध्वंसक जहाजों को आशातीत सफलता मिली। समुद्री सेना की रक्षा में भी इन विध्वंसक जहाजों का बहुत बड़ा हाथ रहा।

इटली और जर्मनी इन विध्वंसक जहाजों की कार्य-प्रणाली से सदा भयभीत रहते थे। कारण, इन विध्वंसक जहाजों के फल-स्वरूप इटली तथा जर्मनी के टारपीडो मारनेवाले अगणित जहाजों को समुद्र की तली में जाकर सदा के लिए अखण्ड समाधि ले लेनी पड़ी थी। विध्वंसक 'जहाज का ही यह कार्य था कि चट्टानों से परिवेष्टित नार्विक समुद्र-तट पर जर्मनी के अगणित जहाजों को सदा के लिए समुद्र-तल म सो जाना पड़ा था। विध्वंसक जहाज ने ही जर्मनी के कारागार जहाज अल्टमार्क पर धावा बोलकर अँगरेज कैदियों को मुक्त करने में सफलता प्राप्त की थी। डंकर्क के भयंकर संग्राम में यदि कोई जहाज टिक सके थे, तो वे विध्वंसक जहाज ही थे।

तीन लाख पौंड

एक विध्वंसक जहाज के निर्माण में, इँगलैंड तीन लाख पौंड खर्च करता है। इसकी गति ३५ नाट (Knots) प्रति घण्टा

रहती है। एक नाट ६०८० फुट का होता है। इस प्रकार यह गति ४० मील प्रति घण्टे हुई।

बड़े-बड़े जङ्गी जहाजों की रक्षा करना, समुद्र की सतह पर और जल-राशि के भीतर शत्रु-पक्ष के छक्के छुड़ाना आदि उत्तर-दायित्वपूर्ण कार्यों को पूरा करने की गरज से ये विध्वंसक जहाज पर्याप्त सेना से लैस रहते हैं। परन्तु रक्षा-कार्य के लिए लड़ाई का उतना ही सामान इन विध्वंसकों पर रक्खा जाता है, जितना बहुत ही आवश्यक होता है। इस बात का सदा ध्यान रक्खा जाता है कि यह सामान इतना अधिक न हो जाय कि जहाज की तीव्र गति पर उसका दुष्प्रभाव पड़ने लगे और उसकी गति धीमी हो जाय।

कर्मठ जीवन

विध्वंसक जहाज के कर्मचारियों का जीवन बड़ा कर्मठ हुआ करता है। इस जहाज के सैनिकों को आराम कभी नहीं मिलता। उन्हें निरन्तर कार्य-व्यस्त रहना पड़ता है। उत्तर-दायित्व का ध्यान रखते हुए ये कर्मचारी स्वयं प्रसन्नतापूर्वक अपने कार्य में जुटे रहते हैं। इन सैनिकों के लिए अन्य जहाजों की तरह आराम की कोई व्यवस्था नहीं की जाती। यदि ऐसी कोई व्यवस्था भी की जाय, तो यह सम्भव नहीं। उन्हें तो जहाज की देखभाल करने और आगामी कार्यक्रम की सफलता के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना पड़ता है। उनका जीवन यन्त्रवत् रहता है।

एक विध्वंसक जहाज पर लगभग २०० आदमी रहते हैं। लोहे के एक घर में, जो एक इंच के अष्टमांश भाग के बराबर मोटा होता है, प्राणघातक यन्त्रादि भरे रहते हैं। इन यन्त्रों का वजन लगभग एक हजार टन तक हुआ करता है। लोहे के इस

घर की लम्बाई ३३० फुट और चौड़ाई ३२ फुट होती है। एक दूसरे और विशेष उपभाग में ६० आदमी एक साथ रहते और वहीं खाते-पीते तथा सोते हैं। लोहे के एक दूसरे घर में आठ-दस अफसर भी इसी तरह रहते हैं।

विध्वंसक जहाज के कमाण्डर के लिए दो कोठरियाँ और एक स्नानागार अलग बना रहता है। परन्तु समुद्र में जब तक यह जहाज अपना कार्य करता रहता है, तब तक कमांडर इन सबका कोई उपयोग नहीं करता। इस समय तो कमांडर को जहाज के ऊपरी भाग पर ही रहना पड़ता है। वहीं उसे भोजन करना पड़ता और वहीं समय मिल सका, तो अपनी पोशाक पहने-पहने ही एक छोटी-सी चौकी पर एक-आध झपकी भी ले लेनी पड़ती है। खर्राटे भरकर सोने का समय उसे कभी नहीं मिलता। इस प्रकार विध्वंसक जहाज के कर्मचारियों को ही नहीं, बल्कि उसके बड़े-से-बड़े अफसर को भी कर्मठ जीवन बिताना पड़ता है।

युद्ध के समय विध्वंसक जहाज पर रहनेवालों का जीवन बड़ा ही संघर्षशील रहता है। उन्हें कभी चैन नहीं, आराम नहीं। इस जहाज को निरन्तर समुद्र में ही रहना पड़ता और द्रुत गति से यात्रा करनी पड़ती है। चलते समय इस जहाज का पिछला भाग पानी में डूब जाता है और अग्रभाग बार-बार समुद्र में डूबता और समुद्र की सतह के ऊपर एक विकट झटके के साथ झूला-जैसा काँपता हुआ झाँक-झाँक उठता है। ऐसा होने पर एक अत्यन्त कर्ण-कटु शब्द होता है। इस खड़खड़ाहट से जहाज का पुर्जा-पुर्जा हिल उठता और ढीला हो जाता है। अग्रभाग की इस विकट कम्पन-लीला से समुद्र की लहरों पर फेन ही फेन उत्पन्न हो जाता है। ऐसा लगता है कि जहाज पर किसी प्रलयङ्कर उथल-पुथल का ज्वार लपकता आ रहा है।

जब कभी समुद्र की लहरों में तूफान उठता है, तब विध्वंसक

जहाज पर जीवन व्यतीत करनेवाले अभ्यस्त व्यक्तियों की दशा भी बड़ी शोचनीय हो जाती है। वे तरह-तरह की समुद्री बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। ऐसी संकटपूर्ण घड़ियों में, जिन नलियों की सहायता से इस जहाज पर प्राणप्रद वायु प्राप्त की जाती है, उन्हें एकदम खींच लिया जाता है। यदि ऐसा न किया जाय, तो कभी-कभी इन्हीं नलियों में से, तूफान की भयङ्करता के कारण, प्राणप्रद वायु के बदले समुद्र की लहरों का पानी भरने लगता है और एक विकट समस्या उत्पन्न हो जाती है।

इस सङ्कट के अतिरिक्त और भी अनेक कठिनाइयाँ सामने आ जाती हैं। ऐसी घड़ियों में मल्लाहों का जत्था खाना-पीना सब कुछ भूलकर, जहाज के अग्रभाग पर सिमटकर एकत्र हो जाता है और उसे विकट संघर्ष का सामना करना पड़ता है।

दो हजार टन

पहले-पहल छोटे-छोटे टारपीडो-वाहक जहाजों को ध्वस्त करने के अभिप्राय से ३०० से ४०० टन वजन के जो जहाज बनाए गए थे, उन्हीं को 'विध्वंसक' कहते थे; लेकिन धीरे-धीरे यही जहाज टारपीडो-वाहक बन गये। इनका वजन साधारणतः एक हजार टन हुआ करता है। दूसरे महायुद्ध में जर्मनी, इटली आदि द्वारा बिछाए गए टारपीडो के जाल को नष्ट करने का काम यही विध्वंसक जहाज किया करते थे।

धीरे-धीरे यह आवश्यकता समझी गई कि इन्हीं जहाजों पर शीघ्र हमला करनेवाली तोपें भी व्यवस्थित की जायें। फलतः विध्वंसक जहाज इन तोपों से भी लैस रहने लगे। पनडुब्बियों को ध्वस्त करना अब इनके लिए बायें हाथ का काम हो गया है। इनका वजन ६०० से १५०० टन तक होता था; लेकिन नवीन ढङ्ग के विध्वंसक जहाज, जिन्हें ट्रिबेल्स (Tribals) कहते हैं,

तीव्रगामी और हलके क्रूजर्स के आकार-प्रकार के लगभग २,००० टन वजन के होते हैं।

जंगी जहाज

अत्यन्त भीमकाय जहाजों को भी बात की बात में समुद्र के अतल-तल में डुबो देनेवाले जो जहाज होते हैं, उन्हें क्रूजर्स (Cruisers) अथवा जंगी जहाज कहते हैं। इनका काम है समुद्री मार्गों पर गश्त लगाने के साथ-साथ सशस्त्र जहाजों का सामना कर उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर डालना।

हलके जंगी जहाजों का वजन तो लगभग २०० टन ही होता है; परन्तु बड़े-बड़े जङ्गी जहाजों का वजन ४२,००० टन तथा इससे भी अधिक होता है। दूसरे महायुद्ध के प्रारम्भ में इँगलैंड के पास रिपल्स, रिनाऊन और हुड नामक तीन भीमकाय जङ्गी जहाज थे। इनमें से हुड संसार भर के जङ्गी जहाजों में अपना सानी नहीं रखता। यह ४२,००० टन का था। इसमें १५ इंच के व्यासवाली आठ तोपें सदा रक्खी रहती थीं। इस जङ्गी जहाज की गति बहुत तीव्र तो नहीं थी, फिर भी ३२ नाट प्रति घण्टे की चाल से यह जङ्गी जहाज समुद्र की लहरों पर अजीब करिश्मे दिखाता रहा।

जर्मनी के विश्व-विख्यात ३५,००० टनवाले एडमिरल ग्राफ स्पी का साहसपूर्वक सामना कर उसे नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले जहाज ब्रिटिश क्रूजर्स अर्थात् एजेक्स एक्जीटर और एचाइल्स ही थे। इन्हीं से व्यापारी जहाजों की रक्षा की जाती थी।

शत्रु-पक्ष के जहाजों का पता लगाने और अवसर पड़ने पर उनका डटकर सामना करने के उद्देश्य से इन जङ्गी जहाजों पर वायुयान भी रक्खे रहते थे, जो समय-समय पर उड़कर आकाश-

मार्ग तथा समुद्री मार्ग, दोनों में ही शत्रु की गतिविधि का पता लगाते और उनके छक्के छुड़ा दिया करते थे।

गुप्त रहस्य

दूसरे महायुद्ध के प्रारम्भ में ब्रिटेन के पास विध्वंसक जहाजों की कुल संख्या १८५ थी। प्रथम महायुद्ध में ब्रिटेन के कुल ६७ विध्वंसक जहाज डुबोए जाकर नष्ट-भ्रष्ट किए जा चुके थे। दूसरे महायुद्ध में भी ब्रिटेन के अनेक विध्वंसक जहाजों को जल-समाधि लेनी पड़ी थी।

ब्रिटिश जहाजी बेड़े के प्रत्येक विध्वंसक जहाज पर कुछ ऐसे यंत्रों की व्यवस्था की गई थी, जो समुद्र के भीतर छिपे रहनेवाले टारपीडो-वाहक जहाजों का पता सूँघ-सूँघकर लगा लेते थे और शत्रु के अदृश्य संहारकारी जाल को छिन्न-भिन्न कर देते थे। ब्रिटिश जहाजी बेडे के इन करिश्मों का रहस्य सदा गुप्त रक्खा जाता था।

सिर्फ दस वर्ष

शान्तिकाल में जब युद्ध की परेशानियों का खतरा नहीं रहता और विध्वंसक जहाजों की गति सिर्फ २० नाट प्रति घंटे रहती है, तब इनका कार्यकाल लगभग दस वर्ष का माना जाता है। इस अवधि के पश्चात् इन जहाजों को छुट्टी दे दी जाती है—इनकी मरम्मत आदि कराने की आवश्यकता पड़ जाती है।

युद्धकाल में जब इनकी गति ३०-३५ नाट प्रति घण्टे तक रहती है, लोह-निर्मित पृष्ठभाग जल्द ढीला-ढाला हो जाता है, जिससे इनका कार्यकाल मात्र तीन वर्ष रह जाता है।

युद्धपोत

एक विध्वंसक जहाज के निर्माण में ३० से ४० लाख पौंड तक खर्च हो जाता है। युद्धपोत के निर्माण में लगभग बारह

करोड़ रुपया लगता है। विध्वंसक जहाज का एक साल का औसत खर्च एक लाख पौंड होता है और एक युद्धपोत का वार्षिक खर्च लगभग चार लाख पौंड।

समुद्री युद्ध के इतिहास में युद्धपोत का महत्त्व सर्वोपरि है। टारपीडो का सामना अथवा टारपीडो-वाहक पनडुब्बियों का सामना विध्वंसक जहाज करते हैं; परन्तु विध्वंसक जहाजों को भी क्षति पहुँचानेवाले जंगी जहाजों का शमन इन्हीं युद्धपोतों द्वारा किया जाता है।

युद्धपोत पर अत्यन्त शक्तिशाली तोपें लगाई जाती हैं। इसके बाहरी भाग पर लोहे की एक मोटी और मजबूत पट्टी लगाई जाती है, जो १६ इंच तक मोटी होती है। युद्धपोत का बाहरी भाग बहुत ही सख्त और भीतरी भाग एकदम नर्म रक्खा जाता है, ताकि बम-वर्षा होने पर, लोहे की यह चादर टूट-फूट न जाय।

मल्लाह

सदा जलमग्न रहनेवाले विध्वंसक जहाजों के मल्लाहों का जीवन निराला होता है। समुद्र के मार्ग में उसकी विशाल जल-राशि से टक्कर लेते हुए, हजारों टन लोहे के इस जहाज को प्रति घण्टे चालीस मील की तीव्र गति से ले जाना साधारण पौरुष नहीं है। ये मल्लाह अत्यन्त कर्मठ होते है। इनकी रहन-सहन अत्यन्त सादी रहती है। ये मल्लाह जो कपड़े पहनते है, वे फैशन या प्रदर्शन के लिए नहीं; बल्कि आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए ही पहनते हैं। ये जो कुछ खाते हैं, वह स्वाद अथवा शौक के लिए नहीं, बल्कि कार्य करने के लिए। अन्य जहाजों पर काम करनेवालों की तरह विध्वंसक जहाजों के मल्लाह तैयार नहीं किए जाते; बल्कि वे जन्म-जात मल्लाह होते हैं और खतरों से सदा खेलने के आदी होते हैं।

परमाणु-युग की झाँकी

वैज्ञानिक आविष्कारों की उत्तरोत्तर सफलता बीसवीं शताब्दि की अपनी विशेषता है। इनकी चकाचौंध बढ़ती ही जा रही है। वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप सौ वर्ष पहले की दुनिया से आज की दुनिया सर्वथा दूसरे ही रूप में हमारे सामने है। इसी तरह आगामी सौ वर्षों में विश्व की क्या रूपरेखा हो जायगी, इसका अनुमान भी सहज ही किया जा सकता है।

और, आपने कभी यह कल्पना भी न की होगी कि पाँच लाख वर्षों के पश्चात् इस दुनिया के मनुष्य का रूप क्या हो जायगा। यदि वैज्ञानिक आविष्कारों की सफलता पर आप विश्वास कर सकें, तो यह बात सुनकर आपको आज थोड़ा-बहुत आश्चर्य भले ही हो; परन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मनुष्य की उँचाई दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। शरीर-विज्ञान-वेत्ताओं का मत है कि पाँच लाख वर्षों के पश्चात् मनुष्य का सिर आज की अपेक्षा बहुत बड़ा हो जायगा और बड़े हो जाने के साथ-साथ वह गोल तथा केश-विहीन भी हो जायगा। उस युग की केश-विहीना नारियों की सूरत-शक्ल का अनुमान करते ही किस सदय भावुक को दुःख न होगा? लेकिन वैज्ञानिकों का कथन जो ठहरा! अविश्वास का स्थान कहाँ?

उस बड़े गोल सिर के केशविहीन मनुष्य की बुद्धि भी बढ़ जायगी; लेकिन सुनने, चखने, देखने और सूँघने की शक्ति आज की अपेक्षा बहुत कम हो जायगी। उन मनुष्यों के चेहरे बहुत छोटे होंगे, उनके शरीर का विकास आज की अपेक्षा कम हो जायगा, पैर लम्बे और मात्र चार अँगुलियों के रह जायँगे।

आज भी परमाणु-सम्बन्धी आविष्कारों में जो उत्तरोत्तर सफलता मिल रही है, उसके आधार पर यह प्रतीत होने लगा है कि हम तीव्रता से उस परमाणु-युग की ओर बढ़ रहे हैं, जिसमें कलकारखानोंवाले क्षेत्रों को धुएँ के काले बादलों के बीच न रहना पड़ेगा। उस युग में शहरों की लम्बी-चौड़ी सड़कों पर बिजली, टेलीफोन आदि के तारों का मकड़ी-जैसा जाल न दिखलाई पड़ेगा। मोटरों को पेट्रोल के लिए मोहताज न रहना पड़ेगा; कारण उस परमाणु-युग में मोटरें बिना पेट्रोल के ही सरपट दौड़ेंगी। रसोई-घरों में धुएँ से जो काली दीवारें आज हमें भली नहीं मालूम पड़तीं और उन पर दृष्टि फेंकते ही एक घृणा का भाव हमारे मन में कौंध जाता है, यह सब परमाणु-युग में कदापि न होगा। परमाणु-युग में तो प्रकाश और गर्मी यूरेनियम २३५ अथवा कैडमियम (राँगे जैसी एक धातु), शीशा अथवा पैरोफीन आदि में सन्निहित शक्ति द्वारा हमें आवश्यकता से भी अधिक प्राप्त होने लगेंगे।

प्रश्न उठता है कि ऐसा युग सचमुच कभी इस दुनिया में आयगा अथवा यह सब कपोल-कल्पना ही है? यदि आयगा तो कब? दस, सौ या हजार वर्षों में—आखिर कब आयगा? उत्तर में यही कहना होगा कि समय चाहे जितना लगे; परन्तु वैज्ञानिक आविष्कारों की सफलता को देखते हुए अब इस बात में सन्देह की गुंजाइश नहीं रही। परमाणु-युग किसी कवि की कल्पना नहीं है। हाँ, इसे प्राप्त करने में अभी अनेक समस्याओं को सुलझाना होगा; जो रोड़े इस मार्ग में हैं, उन्हें दूर करना होगा। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि एक सदी के भीतर ही यह परमाणु-युग आ पहुँचेगा।

परमाणु-युग में पहुँचने का मार्ग, सन्देह नहीं, बड़े-बड़े रोड़ों से फिलहाल अवरुद्ध है। लेकिन इन रोड़ों की अपेक्षा विज्ञान

बड़े-बड़े रोड़ों को पार कर चुका है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जे० सी० बोस ने जब पहले-पहल बेतार-के-तार की 'शार्ट वेव्ज' (लघु-लहरें) प्रस्तुत की थीं, तब बहुत कम लोगों ने यह सोचा था कि कभी ऐसा भी दिन आयगा, जब दुनिया के किसी भी दो कोनों पर बैठकर दो आदमी इस आविष्कार के सहारे सहज ही बातचीत कर सकेंगे। इसी तरह सन् १६२४ में जब जे० एल० बेर्ड ने पहले-पहल टेलीविजन का प्रदर्शन किया, तब लोगों ने इसे एक वैज्ञानिक सनक की संज्ञा दे डाली थी और बड़ा महँगा आविष्कार कहकर इसकी उपेक्षा कर दी थी। सर सी० वी० रमण ने जब छह वर्ष के अनवरत परिश्रम और धैर्य के बाद प्रकाश-सम्बन्धी आविष्कार किया था, तब बहुत कम लोगों ने उसे युग की अनोखी देन स्वीकार किया था।

प्रत्येक वैज्ञानिक आविष्कार का लगभग यही हाल रहा। प्रारम्भ में लोग इन आविष्कारों की उपयोगिता और प्रचार का समर्थन शायद इसलिए नहीं कर पाते कि ये बड़े कष्टसाध्य, श्रमसाध्य और व्ययसाध्य प्रतीत होते हैं। लेकिन वैज्ञानिकों ने सदा ऐसे प्रतिरोधों और रोड़ों पर विजय प्राप्त की है। आज के वैज्ञानिक परमाणु सम्बन्धी बातों को उतनी ही बारीकी से समझने लगे हैं, जितनी कि हम अपने कमरे की सभी चीजों को जानते हैं।

वैज्ञानिक आविष्कारों के इतिहास में परमाणु-शक्ति का प्रवेश तब हुआ, जब कि दूसरा महायुद्ध समाप्त हो चुका था। जापान के हिरोशिमा नगर को जब ६ अगस्त १६४५ को परमाणु-बम के प्रलयङ्कर विस्फोट ने पलक मारते ध्वस्त कर दिया, तब इस परमाणु-शक्ति का प्रथम परिचय पाकर सारा विश्व अवाक् रह गया। इस परमाणु-शक्ति के विस्फोट ने गगन-विचुम्बी इमारतों को धराशायी कर दिया; लोहे की दीवारों को भाप बनाकर उड़ा

दिया और पृथ्वी के धरातल पर भूकम्प कर दिया। इस विनाश-लीला में जो हजारों प्राणी किसी तरह मकानों, कन्दराओं आदि के भग्नावशेषों के नीचे जीवित बच गए, उन्हें भी परमाणु-बम की बची-खुची किरणों का बुरी तरह शिकार हो जाना पड़ा और अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

बहुत से लोग यह समझते हैं कि इस विनाशकारी और प्रलयङ्कर परमाणु-शक्ति का उपयोग केवल ध्वंसात्मक ही है। लेकिन यह धारणा एकदम भ्रामक है। परमाणु-शक्ति का उपयोग युद्धास्त्रों के अतिरिक्त सृजनात्मक कार्यों में भी सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

लेकिन परमाणु-शक्ति का रहस्य उसके सृजकों द्वारा एकदम गुप्त रक्खा जा रहा है। इस रहस्य को अमरीका, ब्रिटेन और कनेडा के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रों से अनिश्चित समय तक गोपनीय रखने की अमरीका की नीति न केवल विज्ञान को उन्नति की दृष्टि से, प्रत्युत मानव-कल्याण की दृष्टि से भी बड़ी घातक है। ऐसी एकांगी नीति का स्पष्ट अर्थ है कि परमाणु-शक्ति का विकास दुनिया के सभी राष्ट्रों द्वारा सम्मिलित रूप से अथवा मिल-जुलकर न किया जा सकेगा। परन्तु यह सब अमरीका की आत्म-प्रवंचना है। परमाणु-शक्ति का ६५ प्रतिशत रहस्य ऐसा है, जिसे सभी वैज्ञानिक समझते हैं। बाकी ५% रहस्य, जिसे गुप्त रक्खा जा रहा है, उन्हीं वैज्ञानिकों तक सीमित है, जो युद्ध अथवा विनाश के पथ पर बढ़ते जा रहे हैं।

'जब तक दुनिया की महती शक्तियाँ कमजोर राष्ट्रों को परमाणु-बम के भय से भयावह बनाए रहेंगी और उन्हें हड़प लेने की अनुचित प्रवृत्तियों का शिकार बनी रहेंगी, तब तक यह रहस्य गुप्त ही रहेगा। लेकिन बीज-सम्बन्धी विज्ञान क्या है और उसका प्रयोग कैसे किया जाता है, यह कोई रहस्यपूर्ण बात नहीं

है। यह रहस्य मात्र इसी में सन्निहित है कि विशालतम शक्ति को संकुचित कर लघुतम रूप में इस प्रकार केन्द्रीभूत किया जाता है कि किसी निश्चित स्थान और समय पर उसका विस्फोट किया जा सके।

पदार्थ-विज्ञान के अनुसार समस्त सृष्टि के प्रमुख तत्त्व ६२ हैं। पदार्थ को अलग करते-करते जो लघुतम अंश बच रहता है, उसे परमाणु कहते हैं। परमाणु को पहले स्थिर समझा गया था, परन्तु अँगरेज रासायनिक टामसन ने यह पता लगाया कि परमाणु के भीतर भी हलचल होती है। उन्होंने परमाणु के 'इलेक्ट्रान' तत्त्व का अनुसन्धान किया। इस आविष्कार के लिए उन्हें नोबिल प्राइज भी मिल चुका है। इसके बाद यह सिद्ध हो चुका कि परमाणु में इलेक्ट्रान, प्रोटान और न्यूट्रान तत्त्व होते हैं।

योरप के रसायन-शास्त्री यह पता पहले ही लगा चुके थे कि परमाणु के भीतर सन्निहित हलचल को यदि फोड़ा जा सके, तो प्रलयङ्कर शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। डाक्टर टुबे ने यह पता लगाया कि परमाणु के प्रोटान तत्त्व में पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से भी अधिक शक्ति है। सूर्य-मण्डल में जिस प्रकार केन्द्र में एक सूर्य है और उसके आसपास अन्य ग्रह चक्कर काटते रहते हैं, उसी भाँति परमाणु में भी एक केन्द्र है, जिसके आसपास घटक फिरते रहते हैं। दो परमाणुओं के घटक जब पास आते हैं, तब उनमें तक अरब दस करोड़ वोल्ट्स बिजली की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। साधारणतः हम प्रकाश के लिए जो बल्ब जलाते हैं, उसमें २५० वोल्ट्स बिजली की शक्ति होती है। इसी बात से हम इस प्रचण्ड शक्ति की कल्पना कर सकते हैं।

परमाणु की भयंकर शक्ति का रहस्य ज्ञात हो जाने पर,

लारेंस नामक एक अमरीकन रासायनिक ने इसे तोड़ने-फोड़ने का भी आविष्कार कर डाला। सायक्लोट्रान नामक एक यन्त्र बनाया गया, जिसमें बिजली और मेगनेशियम में कुछ परमाणुओं को चक्कर खिलाकर एक ऐसी विशेष शक्ति उत्पन्न की गई, जिसे परमाणु पर गिराते ही वह टूट गया। इस आविष्कार पर लारेंस को भी नोबिल पुरस्कार दिया जा चुका है।

परमाणु के टूटने-फूटने से प्रलयंकर संहारक शक्ति प्राप्त होने का रहस्य ज्ञात हो जाने पर, इसे प्राप्त करने के लिए संसार की लगभग १५०० संस्थाएँ और अनेक प्रयोगशालाएँ अपने-अपने उद्योग में लग गईं। सन् १९४२-४३ में अँगरेज सैनिकों ने दो नाजी प्रयोगशालाओं पर छापा मारा था। अपार क्षति सह कर भी अँगरेजों ने इन प्रयोगशालाओं को नष्ट कर डाला।

परमाणु की सुप्त अमोघ शक्ति को जागृत करने के लिए अमरीकन और अँगरेज रसायन-शास्त्रियों की एक समिति पहले से ही काम कर रही थी। इन दोनों देशों ने अरबों मुहरें इस प्रयोग पर पानी की तरह बहा दीं।

अमरीका के टेनसी परगने में इस काम के लिए 'ओकरीज' शहर बसाया गया था, जहाँ ७५,००० आदमी इस काम में संलग्न थे। इनमें चार-छह आविष्कारक ही ऐसे थे, जो इस प्रयोग के समस्त रहस्यों से परिचित थे। इस शहर को एक फौजी शहर की तरह बसाया गया था, जिससे किसी को इस प्रयोग की शंका न हो सके। एक हजार हथियारबन्द सिपाही दिन-रात पहरे पर तैनात रहते थे, जो यह पता लगाए रहते थे कि इस प्रयोग की गुप्त बातें कहीं किसी प्रकार फूट तो नहीं रही हैं।

पृथ्वी का निर्माण जिन ६२ तत्वों से हुआ है, उनमें यूरेनियम सबसे कड़ा है। इसका परमाणु टूटना बड़ा कठिन है। इसीलिए इसमें शक्ति भी बहुत है। यूरेनियम के परमाणु पर अन्य जाति

के परमाणु का न्यूट्रान गिराते ही वह फूट गया। यूरेनियम के फूटते ही उसके निजी न्यूट्रान निकले, जो यूरेनियम के ही भीतर जा पहुँचे। बारबार न्यूट्रान निकलते और केंद्र में तेजी से पहुँचते। प्रतिबार अधिकतर प्रकाश और शक्ति बढ़ती गई। यूरेनियम के एक घनफुट में से एक सेकण्ड के सौवें हिस्से में सूर्य-सदृश विलक्षण तेज चमकने लगा। यह शक्ति दस लाख किलोवाट थी! १५० मील की दूरी पर बैठी एक अन्धी लड़की को भी इसके कारण ऐसा जान पड़ा कि कहीं कोई चमक उत्पन्न हुई है। इस प्रकाश और शक्ति को काबू में लाकर छोटे से डिब्बे में बन्द कर रखने और यथासमय इसका विस्फोट किए जाने का रहस्य इस प्रकार ज्ञात हो गया।

वैज्ञानिकों का विश्वास है कि परमाणु-बम या शक्ति का उपयोग ध्वंसात्मक कार्यों तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत सृजनात्मक कार्यों में भी किया जायगा। बर्फ के विशालकाय पहाड़ों को तोड़-फोड़कर उसके बीच से आवागमन के सुविधाजनक मार्ग बना लेना परमाणु-बम के लिए साधारण-सा काम होगा। वायुमण्डल की सरदी-गरमी को घटा-बढ़ाकर आवश्यकतानुसार कर लेना भी साधारण-सी बात हो जायगी। लोहा, मैगनेशियम आदि धातुओं की खानों का पता लगाकर उनमें से आसानी से हजारों-लाखों टन धातु निकाली जा सकेगी। कोयला और बिजली द्वारा जो शक्ति आज बड़ी कठिनाई से प्राप्त की जाती है, वह यूरेनियम २३५ से कई गुना उत्पन्न हो सकेगी।

संसार के विभिन्न भागों मे तत्परतापूर्वक एतद्विषयक प्रयोग किए जा रहे हैं। सस्ते मूल्य पर परमाणु-शक्ति प्राप्त करने के और सृजनात्मक कार्यों के लिए उसका उपयोग करने के तरीकों का पता लगाया जा रहा है। हमारे भारतवर्ष में भी परमाणु-शक्ति के सहारे युगान्तर उपस्थित हो जायगा।

परमाणु-बम से गगन-विचुम्बी इमारतें पलक मारते धराशायी हो जाती है, परन्तु एक अमरीकन इंजीनियर इससे बचने का उपाय भी खोज रहा है। उसके कथनानुसार अब इमारतें बड़े-बड़े राईट साइक्लोन २२५० अश्व-शक्ति के वायुयानों के इंजनों पर बनाई जायँगी और इच्छानुसार उन्हें चाहे जब इमारत के नीचे खोदी गई पोली जमीन में उतार दिया जा सकेगा। इस इंजीनियर का प्रयोग बहुत-कुछ सफल भी हो गया है।

इस प्रयोग की पूर्ण सफलता पर हमें मकान बनवाने की परेशानी भी न होगी। बाजार में अन्य आवश्यक वस्तुओं की तरह बने-बनाए मकान भी बेचे जायँगे। दूसरे महायुद्ध के समय ब्रिटेन ने अमरीका से ऐसे बने-बनाए ३०,००० मकान खरीदे थे। ये १२ फुट लंबे और १२ फुट चौड़े थे। प्रत्येक कमरे में चार खिड़कियाँ थीं। प्रत्येक मकान में चार-चार कमरे थे; एक बैठक-खाना, दो शयनकक्ष, एक रसोईघर। स्नानागार अलग था। ठण्डे देशों में इन मकानों को गर्म रखने के लिए इनके भीतर चूल्हे भी बनाए गये थे। इन मकानों में झाड़ू देने, टब आदि की सफाई करने की व्यवस्था भी बिजली द्वारा की गई थी।

इस प्रकार वैज्ञानिक आविष्कारों की बदौलत जो परमाणु-युग शीघ्र ही आनेवाला है, वह विश्व की रूप-रेखा को सर्वथा बदल देगा।

उद्जन-बम

विज्ञान के आविष्कारों से जहाँ संसार का हित होता है, वहीं उसका नाश भी हो सकता है। सारे संसार पर एकछत्र राज्य करने की लालसा बड़े-बड़े देशों में घर करती जा रही है। इसका फल यह हो रहा है कि दिन-पर-दिन भयंकर शस्त्रों का आविष्कार हो रहा है। इधर उद्जन (हाइड्रोजन) बम का निर्माण हो रहा है, जो संसार का सबसे भयानक शस्त्र होगा।

अभी जापान के हिरोशिमा पर अणुबम गिरने की बात पुरानी नहीं हुई है कि उद्जन-बम का निर्माण किया जाने लगा है। उद्जन (हाइड्रोजन) बम दुनिया के सभी अस्त्रों से भयानक है।

जब अमरीका ने हिरोशिमा पर अणुबम फेंका था, तो उससे लगभग एक लाख व्यक्ति मरे तथा ५० हजार आहत हुए थे। जिस स्थान पर यह बम फटा था, उसके चारों ओर आध मील की परिधि में शायद ही कोई व्यक्ति या मकान ऐसा रहा होगा, जिसे क्षति न पहुँची हो। इसके बाद अणुबम के रहस्य पर पर्दा डाल दिया गया। परन्तु रूस ने भीतर ही भीतर खोज जारी रखी और कुछ दिन पूर्व यह खबर फैली कि रूस में एक भीषण विस्फोट हुआ है। इस समाचार से सभी देशों को यह विश्वास हो गया कि रूस भी अणुबम बनाने में सफल हुआ है। अणु-बम के कारण अमरीका का जो प्रभुत्व सारे विश्व पर हो गया था, वह भी इससे छिन्न-भिन्न हो गया। इसलिए अमरीका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अणुशक्ति-कमीशन को आदेश दिया कि वह

अणु पर अपनी खोज जारी रखें। फल यह हुआ कि अणुबम का परदादा उद्जन (हाइड्रोजन) बम बनाया जा रहा है।

यह नया उद्जन-बम क्या है और कैसे बनेगा, इस विषय में अभी कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। परन्तु वैज्ञानिकों ने यह बात स्वीकार कर ली है कि उद्जन-बम अणुबम से दसगुना भयानक और ध्वंसकारी तथा एक हजार गुना शक्तिशाली हो सकता है। यदि पूरी शक्ति का उद्जन-बम बनाया जाय, तो वह अणुबम से कहीं अधिक परिधि को ध्वंस कर सकता है और उस परिधि के भीतर कोई भी मनुष्य या पशु-पक्षी जीवित नहीं रह सकता। ऐसे बम का किसी नगर पर गिरने का अर्थ होगा,उस सारे नगर को उठाकर सूर्य की जलती हुई भट्टी में डाल देना।

प्रश्न उठता है कि आखिर उद्जन-बम क्या वस्तु है और अणुबम से यह इतना अधिक शक्तिशाली क्यों है? उद्जन-बम को "सूर्यबम" भी कहते हैं। वैज्ञानिक गत कई वर्षों से इस बम के विषय में विचार-विनिमय करते आये हैं। उन्होंने जो खोज की है, उसी के आधार पर कहा जा सकता है कि फटने से पूर्व इस बम में भी वही रासायनिक विधियाँ होती हैं, जो सूर्य और तारों में हुआ करती हैं। सूर्य में रहनेवाली गैसों में सबसे अधिक हाइड्रोजन होती है। इसी हाइड्रोजन के कारण सूर्य में गर्मी पैदा होती है। उसके भीतरी भागों का ताप २,००,००,००० डिगरी से लेकर ४,००,००,००० डिगरी तक होता है। सूर्य का यह ताप ६ करोड़ ३० लाख मील की दूरी का सफर करके हमारी दुनिया तक पहुँचता है। इस कारण इसकी तेजी कम हो जाती है और विश्व की जीवित वस्तुएँ जल-भुनकर राख नहीं होने पातीं। अब तनिक सोचिए कि मनुष्य द्वारा बनाए गए

उद्‌जन-बम में जब यह शक्ति और ताप पृथ्वी के बहुत ही समीप हो जायगा, तो आप कैसा अनुभव करेंगे।

सम्भव है, उद्‌जन-बम अणुबम से केवल दसगुना ही अधिक शक्तिशाली हो, परन्तु कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि यह बम अणुबम से एक हजार गुना अधिक शक्तिशाली हो सकता है।

उद्‌जन-बम की विस्फोट-विधि सरलता से समझ में आ सकती है। यह बात स्पष्ट है कि हाइड्रोजन (जो दुनिया का सबसे हल्का तत्त्व है) जब हीलियम में (जो उससे कम हल्का तत्त्व है) बदल दिया जाता है, तो बहुत अधिक शक्ति पैदा होती है। परन्तु अणुबम में बात उल्टी है। उसमें दुनिया में सबसे अधिक भारी तत्त्वों का प्रयोग किया जाता है। इनका नाम "यूरेनियम" और "प्रोटोनियम" है।

दोनों बमों की विस्फोट-विधि में भी धरती-आकाश का अन्तर है। अणुबम में अणु टूटने पर ही विस्फोट होता है। टूटने पर अणु उस शक्ति को मुक्त कर देते हैं, जो उनमें बन्द रहती है। परन्तु उद्‌जन-बम मे अणु के कणों से अणु बनने पर ही यह शक्ति पैदा होती है। इसलिए अणुबम का विस्फोट अणु के टूटने से होता है और उद्‌जन-बम का दो तत्त्वों के मिलकर अणु बनाने से।

आस्ट्रिया के वैज्ञानिक डा० थार्डटिंग का मत है कि उद्‌जन और अणुबम का सबसे बड़ा अन्तर यह है कि उद्‌जन-बम तो किसी भी आकार का बनाया जा सकता है; परन्तु अणुबम एक विशेष प्रकार का ही बन सकता है; क्योंकि अणुबम में यदि मसाला कम हो, तो उसका विस्फोट ही नहीं होगा, और यदि मसाला आवश्यकता से अधिक हो, तो उसका विस्फोट समय से पहले ही हो जायगा। दूसरे, अणुबम में प्रयोग किया जानेवाला तत्त्व : प्रोटोनियम बड़ी कठिनाई से मिलता है और सारी दुनिया

में शायद एक टन से अधिक न पाया जा सके; परन्तु हाइड्रोजन बहुत अधिक संख्या में प्राप्त हो सकता है।

यदि एक ही मात्रा में हाइड्रोजन, यूरेनियम और लीथियम का विस्फोट किया जाय, तो जो शक्ति हाइड्रोजन से पैदा होगी, वह यूरेनियम और लीथियम से कहीं अधिक होगी। यह संभव है कि दस टन का एक उद्‌जन-बम बनाया जा सके। यह बम अब तक फटनेवाले अणुबमों से दस हजार गुना शक्तिशाली होगा। यह भी संभव है कि एक उद्‌जन-बम अपने चारों ओर १०० मील की परिधि तक समस्त जड़-चेतन का अन्त कर दे। उससे जो गर्मी पैदा होगी, उसकी तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

हो चुका था। इसके बाद भी बहुत कार्य किया गया है; परन्तु वह गोपनीय रखा गया है।

टैंक-रक्षक शहतीर

पृथ्वी के धरातल पर मैजिनट लाइन का जो दृश्य दीखता है, वह है लारेन प्रान्त के बड़े-बड़े मैदानों का भू-भाग, जिसमें सहस्रों लाखों ऐसे पंक्तिबद्ध शहतीर निर्मित किए गए हैं, जिनके कारण बड़े-बड़े टैंकों को भी, मैजीनट लाइन की तरफ एक कदम भी आगे बढ़ने में घुटने टेक देने पड़ते हैं। जमीन के भीतर १०० गज की निचाई पर गैलरियाँ (Galleries) बनाई गई हैं, जो विद्युत्-प्रकाश से आठों पहर जगमगाया करती हैं और जिनमें अगणित व्यक्ति निरन्तर कार्य-व्यस्त रहते हैं। वहीं स्टील की एक विशालकाय मेखला (Girdle) इस प्रकार जमीन में चस्पाँ की गई है कि तनिक भी हिल नहीं सकती। इस मेखला से सटकर अनेक ऐसी नालियाँ खोदकर तैयार की गई हैं, जिन्हें सैकड़ों मील लम्बी सुरंगें कहना अधिक उपयुक्त होगा।

ढाई लाख सैनिक

मैजीनट लाइन के भीतर युद्धकाल के बाद भी शान्तिकाल में आमतौर पर २,५०,००० सैनिक सदा रहते हैं। इस संख्या से युद्ध-कालीन सैनिक-संख्या का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। इसमें रहनेवाली फौजें जमीन के भीतर भी उसी तरह सारे सैनिक अभ्यास और मार्चिङ्ग आदि किया करती हैं, जिस प्रकार किसी सैनिक-शिविर में यह सब होता है।

मैजीनट लाइन के भीतर बसनेवाली दुनिया की गतिविधि को सञ्चालित करनेवाले और इस किलेबन्दी की रक्षा का समस्त भार वहन करनेवाले रक्षक-अधिकारी (कमाण्डेण्ट) का दफ्तर भी इसी पातालपुरी में रहता है। इस दफ्तर में बैठकर यह अधिकारी

अपना काम करता और उन समस्त सुविधाओं का अनुभव करता है, जो किसी बढ़िया दफ्तर में सुलभ हो सकती हैं।

आलीशान तारघर

किसी बड़े रेलवे-जङ्क्शन पर आकाश में जिस तरह तारों का एक जाल बिछा नजर आता है, ठीक उसी तरह मैजीनट लाइन के भीतर—पातालपुरी में—भी अत्यन्त व्यवस्थित और आलीशान तारघर चौबीसों घंटे खट-खटाखट के स्वर से गूँजा करता है। मैजीनट लाइन के भीतर बने विभिन्न किलेबंदियों के प्रत्येक फर्श से इस तारघर का सम्बन्ध जोड़ा गया है ताकि शीघ्रतापूर्वक यथास्थान सन्देश भेजकर कोई भी आवश्यक कार्य अविलम्ब पूरा किया जा सके।

इसी पातालपुरी में बड़ी गहराई पर एक ऐसा दफ्तर भी है, जहाँ अग्निबाणों को यथास्थान भेजे जाने की समुचित व्यवस्था है। परन्तु जो कार्यकर्त्ता यह काम करता है, उसे यह देखने का सौभाग्य कभी प्राप्त नहीं होता कि जिसकी क्रियाशीलता से ये अग्निबाण भेजे जा रहे हैं, वे क्या कर सके अथवा उनका क्या परिणाम हुआ।

हवा और प्रकाश

जमीन खोदकर निर्मित की गई इस पातालपुरी—मैजीनट लाइन—में जाकर जीवन बितानेवाले अगणित व्यक्तियों को शुद्ध हवा मिल सकने का पूरा-पूरा और स्तुत्य प्रबन्ध किया गया है। हवा-प्राप्ति का यह प्रबन्ध बहुत कुछ उसी तरह किया गया है, जिस प्रकार किसी आधुनिकतम सिनेमा-घर में, समस्त दरवाजे बन्द कर देने पर भी, शुद्ध हवा आने की व्यवस्था रहती है। इसी तरह मैजीनट पंक्ति का कोना-कोना प्रकाशित रखने के लिए,

फ्रांस की पातालपुरी : मैजीनट लाइन

फ्रांस की महानतम किलेबन्दी—मैजीनट लाइन—जर्मनी और फ्रांस की सीमाओं पर निर्मित एक ऐसी रहस्यमयी किलेबन्दी है, जहाँ तोपों की गड़गड़ाहट में भी फ्रेंच सेनाएँ सुख की नींद सोती थीं और हिटलर के अभियाण भी जिसको क्षति पहुँचाने में व्यर्थ सिद्ध हुए। जर्मनी के आक्रमणों को व्यर्थ कर देने—विफल कर देने—के उद्देश्य से ही इस रहस्यमयी मैजीनट लाइन के निर्माण की रूपरेखा सबसे पहले मार्शल पेताँ और जनरल डिबेनी के मस्तिष्क की उपज थी। इन्हीं ने इसकी आवश्यकता महसूस की थी। परन्तु तत्कालीन युद्ध-मन्त्री श्री आंड्रे मैजीनट को इस पंक्ति के निर्माण के लिए फ्रेंच पार्लामेंट से आवश्यक खर्च का तखमीना मंजूर कराने में सफलता मिली। सन् १९२९ मे इन्हीं युद्ध-मन्त्री के निरीक्षण में इस पंक्ति का निर्माण-कार्य प्रारम्भ हुआ और इन्हीं के नाम पर इसका नाम 'मैजीनट लाइन' पड़ गया।

दस करोड़ पौंड

मैजीनट लाइन जमीन के नीचे लगभग ६०० मील के विस्तार में निर्मित एक विशाल गुफा ही समझिए। इसके बनाने में फ्रांस को लगभग १० करोड़ पौंड की विशाल धन-राशि खर्च करनी पड़ी थी। प्रारम्भ में मैजीनट लाटन की निर्माण-योजना पर फ्रांस में कठोर आलोचनाएँ की गई थीं। वामपक्षीय राजनीतिज्ञों ने इसका कभी समर्थन नहीं किया, यद्यपि फ्रांस की शांति-सूचक सद्भावनाओं को दुनिया के सामने प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही इस पंक्ति के निर्माण की आवश्यकता समझी गई थी।

वास्तव में इस दुर्भेद्य पंक्ति का निर्माण इसी इरादे से किया गया था कि अलसास और लारेन को वापस ले लेने के बाद फ्रांस किसी पर आक्रमण नहीं करेगा; परन्तु इतना वह अवश्य चाहेगा कि जर्मनी, जो उसी समय से फ्रांस का शत्रु बन गया था, यदि कभी उस पर अचानक हमला कर बैठे, तो उससे फ्रांस की पूरी-पूरी रक्षा की जा सके।

जमीन के नीचे

जमीन के नीचे इतने विस्तृत क्षेत्र में और इतने सुरक्षित ढंग पर निर्मित यह मैजीनट पंक्ति दुनिया भर में अद्वितीय है। किसी इमारत की तरह इसका निर्माण जमीन के ऊपर नहीं; बल्कि जमीन के नीचे-नीचे ही किया गया है। सन् १९२९ से लेकर १९३६ तक अगणित इंजीनियरों ने १५० लाख घनाकार गज जमीन को भीतर-ही-भीतर खोद डाला था। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि उससे भी अधिक भूमि पोली कर डाली गई थी, जितने में लंदन में जमीन के नीचे चलनेवाली तमाम रेलों की सड़कों का विस्तार है। इस प्रकार निर्मित सुरङ्गों और संकीर्ण मार्गों में १६,००,००० घनगज कांक्रीट उँड़ेल देना पड़ा था। कितने ही ऐसे विशाल कांक्रीट-स्तम्भ निर्मित किए गए हैं, जिन पर बड़ी-बड़ी तोपें रक्खी गई हैं। इनमें से अनेक स्तम्भ ऐसे हैं, जिनका वजन १२० टन के लगभग है और जिनकी बाजुओं में किसी भी तरह की कमजोरी खोजने पर भी नजर नहीं आती; एक भी दरार जिनमें नहीं देखी जा सकती।

इन तोपों की रक्षा के लिए ५०,००० टन स्टील लगाया गया है—इतना स्टील, जिससे सहज ही किसी बड़ी सेना के लिए पर्याप्त जिरहबख्तर बनवाए जा सकते थे। यह सब सन् १९३६ ई० तक

वहीं एक बहुत बड़े बिजली-घर का निर्माण किया गया है। सैकड़ों मील लम्बी सुरंगों में इसी बिजलीघर से प्रकाश किया जाता है।

सदा जमीन के अन्दर रहनेवाले सैनिक जब कभी अस्वस्थ होते हैं, तब इनके उपचार के लिए कृत्रिम सूर्य-प्रकाश की व्यवस्था भी कर दी जाती है। इनके उचित उपचार का ध्यान रखते हुए वहीं अस्पताल भी बना दिए गए हैं। जमीन में २०० फुट की गहराई पर अस्वस्थ सैनिकों को कृत्रिम सूर्य-किरणों में रक्खा जाता है।

मनोरञ्जन

यहाँ रहनेवालों को सिनेमा आदि देखने का कोई मनोरञ्जक साधन उपलब्ध नहीं। अपने काम से छुट्टी मिलने पर कहीं भी एकत्र होकर ये लोग आपस में गपशप करते और शराब के प्याले पीते देखे जाते हैं। बस, यही इन लोगों का मनोरंजन है। इन लोगों की हजामत बनानेवाली दूकानें भी पातालपुरी में हैं; परन्तु उनमें कोई सजधज नहीं रहती। वहाँ तो बस हज्जाम रहता है और उसके हाथ में रहता है उस्तरा।

भोजन

लाखों की तादाद में रहनेवाले सैनिकों के लिए भोजन की सारी सामग्री बिजली के सहारे पकाई जाती है। भोजन तैयार करने के लिए आग जलाना यहाँ सर्वथा वर्जित है। प्रति रविवार को सैनिक अधिकारियों को एक शानदार भोज दिया जाता है, जिसमें सैनिकों का सर्वोच्च अधिकारी तथा अन्य सभी फौजी अफसर सम्मिलित होते और बढ़िया शराब तथा स्वादिष्ट भोजन का आनन्द लेते हैं।

विस्तार और उपयोगिता

प्रारम्भ में यह मैजीनट लाइन फ्रेंच सीमा पर स्थित जिवेट

नामक स्थान से लेकर, जो म्यूज नदी पर बेलजियम के पास ही स्थित है, स्विस सीमा तक बनाई गई थी। उस समय इसमें अनेकानेक छोटे-बड़े किलों का निर्माण किया गया था और विश्वास किया गया था कि यह किलेबन्दी सर्वथा दुर्भेद्य सिद्ध होगी—कोई भी आक्रमणकारी इसे तोड़-फोड़ न सकेगा।

इस पंक्ति का प्रारम्भ म्यूज नदी से इसलिए किया गया था कि सन् १६१४-१८ के प्रथम महायुद्ध में जिन अनेक कठिनाइयों का अनुभव कर बेलजियनों को जो सबक मिल चुका था, उसे ध्यान में रखते हुए वे लोग भविष्य में इस प्राकृतिक जल-सीमा का, जो उनके देश की रक्षा करती है, अवश्य कुछ-न-कुछ उपयोग करेंगे। और, बेलजियनों ने किया भी यही, भले ही उनकी गति अत्यन्त मन्द रही हो। म्यूज नदी पर इन लोगों ने रक्षा के विपुल साधन जुटा रक्खे थे।

बेलजियम सीमा के निकट फ्रांस के जो गिरि-शिखर हैं, उनका वर्णन पहले-पहल अँगरेज पत्रकार श्री पेमब्रोक स्टीफेंस ने किया था। मैजीनट लाइन की किलेबन्दी के सिलसिले में होने-वाले प्रारम्भिक प्रयत्नों पर प्रकाश डालते हुए उसने लिखा था कि पाँच मील के घेरे में उसने दस बड़े-बड़े किलों का निर्माण होते अपनी आँखों देखा था। इन दस किलों में से जिस एक किले की उसने पैदल परिक्रमा की थी, उसमें उसे पूरा आध घंटा लगा था।

प्रारम्भ में स्विस-सीमा पर ही मैजीनट लाइन का अन्त कर दिया गया था। इसका कारण यह विश्वास माना जाता था कि स्विस की प्रजातन्त्रीय सरकार स्वयं राइन नदी पर अपनी रक्षार्थ कोई किलेबन्दी करेगी, और यह विश्वास कालान्तर में सत्य होकर रहा।

जिचेट और उत्तरी सागर के बीच में, प्रारम्भ में फ्रांस ने एक

निश्चित संख्या में किलेबंदी कर लेने के अतिरिक्त अन्य कोई विचार नहीं किया था; परन्तु द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने पर फ्रेंच और ब्रिटिश सैनिकों तथा विभिन्न इंजीनियरों के परामर्श से मैजीनट लाइन का विस्तार दिनों-दिन अधिकाधिक किया गया। स्विस-सीमा पर जूरा पर्वतों और हाऊटे सेवाई स्थान पर इसी से टक्कर लेनेवाली एक अत्यन्त शक्तिशाली किलेबन्दी का निर्माण किया गया।

फ्रांस और इटली में जब मनमुटाव घर कर चुका था, तभी स्विटजरलैंड से भूमध्य सागर तक इस किलेबन्दी का निर्माण श्री मैजीनट ने किया था। इससे इटली की सीमा से किए जानेवाले हमलों की आशंका मिट गई थी। श्री मैजीनट का यह कार्य अपने ढङ्ग का अनोखा था। इसकी समानता दुनिया के किसी भी देश की सीमा पर निर्मित कोई भी किलेबन्दी नहीं कर सकती थी। इसीलिए श्री मैजीनट के नाम पर इस दुर्भेद्य पंक्ति का नामकरण 'मैजीनट लाइन' हुआ। परन्तु पहले बनाई गई मैजीनट लाइन का अब यथेष्ट विस्तार किया जा चुका है और उत्तर सागर से लेकर फ्रांस में होती हुई यह भूमध्य सागर तक बढ़ा दी गई है।

परिवर्द्धित

अर्डेनिस से लेकर स्विटजरलैंड तक की मध्यवर्ती मैजीनट लाइन का स्वरूप सितम्बर १९३९ ई० से सर्वथा परिवर्त्तित और परिवर्द्धित हो चुका है। प्रारम्भ में यह एक शक्तिशाली किन्तु इकहरी पंक्ति थी, लेकिन अब तो जमीन के नीचे ही नीचे यह दोहरी और तिहरी तक हो चुकी है। सन् १९३८ तक जिस रक्षा की इससे आशा की जा सकती थी, अब उससे कई गुनी शक्ति इसमें सन्निहित हो चुकी है।

पूर्वनिर्मित पंक्ति में कहीं कुछ आधुनिकतम सुधार किए गए

हैं, तो कहीं इसे अधिक विस्तृत कर दिया गया है, और कहीं-कहीं कुछ नवीन किलों का निर्माण कर दिया गया है। इन समस्त परिवर्त्तनों की रूपरेखा दूसरे महायुद्ध के श्रीगणेश से पहले ही तैयार की जा चुकी थी। यथार्थ मैजीनट लाइन में जो इकहरी बनाई गई थी, कांक्रीट गैलरीज थीं, कृत्रिम झीलें थीं और जमीन की प्राकृतिक बनावट को ध्यान में रखकर ही उसका निर्माण किया गया था, जिससे सीमावर्त्ती रेखा से कहीं-कहीं यह किलेबन्दी काफी दूर हो गई थी। कहीं-कहीं इसीलिए यह पंक्ति बहुत अधिक चौड़ी भी हो गई है।

सीमावर्त्ती प्रदेश पर इस प्रकार की शक्तिशाली किलेबन्दी का निर्माण करीब-करीब असम्भव प्रतीत होता था, कारण सन् १८१५ ई० में वियेना-सन्धि के पूर्व प्रशियन अफसरों द्वारा यह सीमा निर्धारित की गई थी, और सैनिक दृष्टि से फ्रान्स के लिए यह अनुकूल नहीं था। परन्तु जर्मनी में जब सभी जगह पर्वत-शिखर हैं, तब फ्रांस की सीमा के पृष्ठभाग पर भी किलेबन्दी करना निहायत जरूरी समझा गया ताकि जर्मनी की जो रक्षा पर्वत-शिखरों से हो सकती है, फ्रान्स की वही रक्षा इस किलेबन्दी से हो सके।

मुख्य मैजीनट लाइन राइन नदी से प्रारंभ करके दक्षिण से उत्तर दिशा की तरफ बनाई गई है। हैजूनो का जंगल पार कर, विसेमवर्ग के दक्षिण-पश्चिम में हाचवैल्ड नामक उत्तुंग पर्वत के पास मैजीनट लाइन की किलेबन्दी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस स्थान पर बड़ी कुशलता और मजबूती से दृष्ट और अदृष्ट अथवा जमीन के नीचे और ऊपर दोनों प्रकार की किलेबंदियाँ बनाई गई हैं और रक्षा के लिए अभेद्य सिद्ध हो चुकी हैं। जिन फौजी इंजीनियरों ने इसे देखा है, सभी ने इसकी सराहना की है। यह कोई साधारण किलेबन्दी नहीं है। यह तो किलेबन्दियों का केन्द्र

है, जहाँ विशालकाय तोपें सदा मुँह बाए तत्पर रहती हैं। इस स्थान से हाटेस वासगेस की पहाड़ियों में से होती हुई यह पंक्ति पश्चिम की तरफ मुड़ जाती है। इस स्थान पर प्रत्येक पहाड़ी झरने को भी विविध रक्षक-कार्यों के लिए चतुराई से व्यवहृत किया गया है। परन्तु एतद्विषयक जानकारी विस्तृत रूप में कभी पत्रों में प्रकाशित नहीं की गई। इस संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि इन पहाड़ियों में किसी भी तरह प्रवेश कर सकना असम्भव है। इन पहाड़ियों में सभी तरह की तोपें जमीन के नीचे लगा दी गई हैं। इस भाग में इस पंक्ति के किसी भी मार्ग को ७० टन तक के विशालकाय और संहारकारी टैंक भी रत्ती भर क्षति नहीं पहुँचा सकते।

टैंकों से रक्षा करने के निमित्त जिन विस्तृत मैदानों में स्टील के स्तम्भ (शहतीर) स्थापित किए गए हैं, वे ऊपरी सतह पर होनेवाले आक्रमणों से तो रक्षा करते ही हैं, साथ ही जमीन के भीतर बसनेवाली मैजीनट लाइन की पातालपुरी की भी पूरी-पूरी रक्षा करते हैं। लोह-स्तम्भों के ये मैदान वही मैदान हैं, जहाँ दो हजार वर्ष पहले जुलियस सीजर की फौजें जर्मन-आक्रमणों से, इसी सीमावर्त्ती प्रदेश की रक्षा करने के लिए उत्तेजित हुई थीं।

हाटेस वासगेस के बाद विचे का पर्वत फैला हुआ है। यह विचे नामक स्थान वही दुर्जय नगर है, जिसका सन् १८७० ई० में होनेवाला घेरा प्रत्येक स्वाभिमानी फ्रेंच के स्मृति-पटल पर अब तक अंकित है। लॉरेन प्रान्त की रक्षार्थ इस स्थान की किलेबन्दी सदा सफल सिद्ध हुई है। इसमें आधुनिक ढंग के यथेष्ट परिवर्त्तन किए जा चुके हैं। यहाँ से मैजीनट लाइन राहरवेच नामक स्थान की ओर चली जाती है, जहाँ लगभग १२०० फुट ऊँचे पर्वतों के नीचे इस किलेबन्दी के आश्चर्यजनक करिश्मे नजर आते हैं। राहरवेच से छोटी-छोटी नदियों, सारनाइड के पूर्वी

और पश्चिमी झरनोंवाली भूमि से होती हुई यह पंक्ति आगे बढ़ जाती है। इन तमाम झरनों और नदियों के पानी का भी उपयोग रक्षा के अनेक साधनों के लिए कुशलतापूर्वक किया गया है।

आधुनिक युद्धों में पानी की महत्ता सर्वाधिक है। किसी भी पानी की पर्याप्त धारा की ऊपरी सतह पर पेट्रोल उँड़ेलकर आग लगाई जा सकती है और ऐसा होने पर कोई भी आक्रमणकारी आग की लपटों का सामना करने में असमर्थ होकर आगे बढ़ने से रुक जाता है। फिर, आधुनिक युद्ध विद्युत्-शक्ति पर ही निर्भर करता है और विद्युत-शक्ति उत्पन्न करने के लिए पानी बहुत आवश्यक है।

फ्रांस की रक्षा करनेवाली यह मैजीनट लाइन संसार की रहस्यमयी और इनीगिनी-सी अनोखी चीजों में से एक है। हिट-लर की सेनाएँ इस दुर्भेद्य पंक्ति को भी पारकर फ्रांस में जो प्रवेश कर सकी थीं, उसका कारण इस पंक्ति का वह नवनिर्मित भाग था, जो अपेक्षाकृत कमजोर था; अन्यथा मैजीनट लाइन को तोड़-फोड़कर फ्रांस में प्रवेश करना लोहे के चने चबाना है।